माटी खाइँ जनावरा.....

सर्वदानन्द

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश,
इलाहाबाद

*   *   *

—स्त्री को निरुपाय बनाकर पति के अधीन करने में समाज ने हज़ारों तरह के यन्त्र और यन्त्रणाओं की सृष्टि की है—उस शक्तिहीन स्त्री को पति के उपद्रव से बचाने के लिए कोई भी आवश्यक मार्ग नहीं रखा गया। सतीत्व की गरिमा का गाढ़ा प्रलेप देकर इस व्यथा को दबाने की कोशिश होती है परन्तु उस वेदना को असम्भव करने की, उसका अस्तित्व मिटाने की ज़रा भी कोशिश नहीं की जाती। हाँ, स्त्रियाँ इतनी सस्ती हैं—इतनी नाचीज़ हैं।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

माटी खाइँ जनावरा...

सर्वदानन्द

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : ३०००, १९६० ईसवी

मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक : प्रेम प्रेस
कटरा, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

सन् १९५८ में नये संविधान के अनुसार पुनः संघटित हिन्दुस्तानी एकेडेमी के उद्देश्यों में कृतृत्व साहित्य के प्रकाशन की योजना सम्मिलित की गयी थी। अभिप्राय यह था कि शोध विषयक तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन वैज्ञानिक तथा साहित्यिक विषयों के पुस्तकों का प्रकाशन करने के साथ ही साथ एकेडेमी रचनात्मक एवं कृतित्वपूर्ण नये तथा मौलिक साहित्य का प्रकाशन करे जिससे इस क्षेत्र के अभावों की पूर्ति करने में वह अपनी सामर्थ्य भर योगदान कर सके तथा यथासम्भव आधुनिक साहित्य की धारा को नयी गति तथा नया वेग देने में तत्पर हो। संविधान के इस उद्देश्य तथा मन्तव्य एवं अभिप्राय की पूर्ति की दिशा में हम ख्यातिलब्ध उपन्यासकार श्री सर्वदानन्द का सामाजिक उपन्यास प्रकाशित करते हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। श्री सर्वदानन्द की दृष्टि सुधारवादी है अथवा सामाजिक विषमताओं का चित्रण कर अन्याय के प्रतिकार के लिए जन समुदाय को प्रयत्नशील और तत्पर करने वाली है, इसका निर्णय हम पाठकों पर छोड़ते हैं। हमारे प्रयोजन के लिए यह काफ़ी है कि यह उपदेशात्मक नहीं है, क्योंकि हम आधुनिक साहित्य समीक्षकों के इस कथन से सहमत हैं कि साहित्य तथा कला के क्षेत्र में उपदेशवादी प्रवृत्ति लाभदायक कम हानिकारक अधिक होती है।

हम आशा करते हैं कि "माटी खाइँ जनावरा" उपन्यास पाठकों को पसन्द आयेगा और उनके प्रोत्साहन से एकेडेमी इस प्रकार की अन्य रचनाएँ प्रस्तुत करने की दिशा में आगे बढ़ती रहेगी।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

विद्या भास्कर
मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष

दो शब्द के मिस उपन्यास पर क्या कहूँ ? दो सौ पृष्ठों में यदि अपनी बात न कह सका होऊँ तो दो शव्दों में क्या कह लूँगा ?

कहानी कुछ विशेष नहीं है। जो कुछ है वह समाज के प्रत्येक घर में आये-दिन बनती-मिटती रहती है । वन्दना और नैना, दोनों से किसी अनतिदूर अतीत में परिचित हुआ था। वन्दना ने मेरी आन्तरिक सहानुभूति पाई, नैना ने अपरिसीम श्रद्धा। वन्दना का अन्त मानसिक आघात से धीरे-धीरे पास आया था, मैंने पति की दी हुई चोट से स्प्लीन फट जाना भी एक कारण माना है। यह घटना घटी थी।

वन्दना ने एक दिन बाबा विश्वनाथ के मन्दिर में प्रार्थना की थी—जिसने अविश्वास किया है उसके सामने अपने विश्वास का परिचय देने जाय, इतना दयनीय और दुर्बल तुम अब किसी स्त्री को मत बनाना।

वन्दना की बुझती साँस में साँस मिलाकर मैं भी औघड़दानी से यही माँगता हूँ।—और यही है इस उपन्यास का विनम्र मूल-स्वर!

मुख्य-मंत्री भवन
कालिदास मार्ग, लखनऊ।
२५ जून, १९६०

—सर्वदानन्द

बाबूजी

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्

और

गेहिनी माधुरी को

एक

वन्दना के सीमंत पर एक लाल रेखा है। वह रेखा श्रृंगार का साधन जब रही हो तब रही हो, आज उससे आगे बढ़कर वह एक प्रतीक बन गई है। वह केवल माथे को ही, कोमल-कलित कुन्तलराशि को ही दो भागों में विभाजित नहीं करती। वह जिस नारी की 'माँग' का श्रृंगार बनती है उसे इस संसार से, स्वतंत्रता से, अपने निज के व्यक्तित्त्व से, हास-रुदन, उल्लास-शोक की सहस्त्रधारा कल-कल-कल्लोलिनी की उच्छल-अनुच्छल रस-राशि से विभाजित कर देती है। वह एक कठोर, अलंघ्य दीवार है जिसे लांघने की चेष्टा करोगे तो मुँह के बल आ गिरोगे। वह एक ऐसी सीमा है जिसका उल्लंघन करने की शक्ति स्वयं धारयित्री में भी नहीं है। वह एक पहिचान है कि उसकी स्वामिनी अब दूसरे की सम्पत्ति है, किसी 'एक' की सम्पत्ति है। स्वजन द्वारा दान में दी हुई सम्पत्ति है। अब तुम उसे नहीं पा सकते। उस तक नहीं पहुँच सकते। उससे बात करने में संभ्रम का ध्यान रखना होगा। उसके रूप-रस-गन्ध का पारखी, गन्धमुग्ध-अन्धमधु मधुप बनने में मर्यादा का अतिक्रमण अमंगल का जनक होगा। वह एक पुकार है कि देखो, मैं परनारी हूँ। तुम्हारी नहीं बन सकती।

और अर्पण, समर्पण और अर्घ्यदान के समस्त आवेदन-निवेदन और उपकरण अब उसके लिये व्यर्थ हैं। उसे एकबारगी ही लुटना था, निवेदित होना था। लुट चुकी, निवेदित हो चुकी। इच्छा से या अनिच्छा से, लाल रेखा जब धारण किया तब एक बार ही उसका मूल्य चुका दिया। उधार नहीं रखा। उस रक्तरेखा को यह पहचान, यह पुकार, यह सीमा, यह आवरण सुरक्षा के लिये समाज से मिले हैं। रेखा के पीछे का यह बल ही असल चीज़ है। यों, खाली रेखा लगी, न लगी।

नन्हीं वय की बालिका खेल-खेल में माँ के सिन्दूरदान से सिन्दूर चुटकी भर लेकर माँग भर लेती है, लोग हँस देते हैं। बालिका भी हँस देती है। हँसी की बात है। उस हँसी का मूल्य एक दिन कितना मँहगा चुकाना पड़ेगा, वह नहीं जानती। लोग भी नहीं जानते, जानना नहीं चाहते। वह बालिका अभी तो किसी एक पुरुष की सुख-सुविधा के उपभोग में आनेवाले गुण अपने पास नहीं रखती। वह सुकुमारी नहीं जानती कि यह रक्तरेखा कुछ अर्थ रखती है। तब उसकी वह वय नहीं होती जब इस रेखा का बल ले, उसे पुरजन-परिजन से छिन्न कर, कोई एक उस पर निष्ठुर (कभी-कभी सदय) अधिकार दिखा सके। उसके पल-पल पर आधिपत्य कर सके। तब उसके अंग अनंगशर से बिधने में अक्षम होते हैं, तब उसके तन पर अतनु के यौवन-संगीत के सरगम का आरोहा-वरोह नहीं होता। मींड-मूर्च्छना कुछ भी नहीं। वय प्राप्त होने पर विशेष अर्थ लेकर ही यह रक्तरेखा अनुप्राणित हो उठती है। गम्भीरता पाती है।

रेखा ही नारी की हँसी है, रेखा ही रुदन। नारी कुछ नहीं है, रेखा ही सब कुछ है।

रात की आँखें मुँद नहीं पा रही हैं। निशीथ के नेत्रों की नींद तिरोहित हो गई है। सपनों के पलक अपलक हैं।

यह वन्दना भी एक पहेली है। हाँ, पहेली तो है ही। निरभ्र नील गगन में एक नन्हा-सा तारा टूटा और छोटे से आँगन में टूटी-सी पलंग पर पड़ी वन्दना के मुँह से अनायास निकल गया—ओह, बेचारा!

बेचारा! तारों का टूटना वन्दना के लिये सदा से व्यथा का कारण रहा है। बचपन में कल्पना के महल बनाती—बड़ी होने पर किसी बहुत ऊँचे, तीन खंडोंवाले भवन में रहेगी। तीन-खंडों से अधिक ऊँची उसकी कल्पना उठ नहीं पाती थी।....तो तीन खंडोंवाले उस भवन के तीसरे खंड पर एक कक्ष में वह समूची खिड़की खोलकर, रात-रात जागती, खड़ी रहेगी। यामिनी के अंचल से टूटकर गिरते तारों को खिड़की से बाहें फैलाकर वह समेट लेगी और निशांत पर उन्हें अपने अंचल में भरे नीचे उतरेगी। दूसरे दिन निशागम पर आकाश में उतरे तारे कम होंगे। रजनी-माँ अपने खोए शिशुओं की सुधि में बिसुध होगी कि लो, बेचारा एक तारा फिर टूटा। माँ को किंचित् अन्यमनस्क जान कोई शिशु फिर धीरे से आंचल का आश्रय छोड़ छिटक पड़ा और वन्दना ने बाहें बढ़ा, बीच में बचाकर, अपने आंचल में छिपा लिया।

महरी की बेटी परबतिया बात को घुमाफिरा कर कहने की आदी है। वह संध्या को आकर कह गई थी—अम्मा काम पर आज नहीं आयेंगी।

वन्दना ने पूछा था—क्यों?

परबतिया ने दोपहर के जूठे लोटा-ग्लास-थाली एकत्र करते हुए प्रश्न के उत्तर में बताया था—उस घर में अम्मा जब काम करने गई थीं तब बिलेसुर (परबतिया का छोटा भाई) साथ चला गया था। अम्मा पानी की बाल्टी लेकर ऊपर गईं तब वह भी पीछे-पीछे चढ़ गया। ऊपर जाकर पाँव फिसल गया और लुढ़क कर सीढ़ी से नीचे आ रहा। उसे बहुत चोट लगी है। अम्मा रोते-रोते बेहाल हो रही हैं।

बेहाल होने की बात है। और वन्दना एकदम सोच उठी थी—यामिनी के अंचल से टूट कर गिरा हुआ तारा!

'वह' अभी तक नहीं आये। ओवरटाइम कर रहे हैं। सप्लाई की किताबें लगी हुई हैं। लाला कृष्णसहाय को और किसी पर प्रेस में भरोसा नहीं, इतना खटने वाला भी और कोई प्रेस में नहीं है। कोई काम हो, पंडित जी ज़रा देख लीजियेगा और पंडित जी हैं कि प्राण दिये दे रहे हैं। लाला जब अपनी लाड़ली नैना को लेकर बाग वाले घर में सुख की नींद सो रहे होंगे तब पंडित जी 'रांग फांट' और 'सेवायम' और 'बारह प्वाइंट' से सिर मार रहे हैं। और मैं यहाँ, इस आधी रात को, पड़ी करवटें बदल रही हूँ।

आख़िर यह लड़का चाहता क्या है? क्यों बार-बार रोज़ इसी गली से गुनगुनाता निकलता है और जब निकलता है तब एक निगाह खिड़की पर ज़रूर डाल लेता है। इसकी ढिठाई तो देखो, उस दिन गली से मुझे खिड़की में बैठी देख, फूलों का गुच्छा दिखा रहा था। यह तो अच्छा हुआ कि 'वह' दफ़्तर गये थे, नहीं तो कहीं देख लेते, तो? अच्छा, उसे कैसे मालूम हुआ कि फूल मुझे प्यारे हैं? माना कि तुमने एक दिन मेरे जूड़े में (मेरी असावधानी से ही तो?) फूल गुँथे देख लिए थे, इससे ही तुमने समझ लिया कि फूल मुझे प्यारे हैं! अच्छा, यह भी माना कि प्यारे हैं तो तुम्हें क्या? तुम मेरे प्यार का दुलार रखने वाले कौन हो जी?

भला यह भी कोई बात है! इतनी-इतनी रात तक आदमी काम करेगा तो खाए सोएगा कब? पैसों ने उन्हें खा लिया। पैसों के साँप ने डस लिया। लालाजी की तिजोरी भरने के प्रयास में पंडित जी मिटे जा रहे हैं।

सब ओर सब चुप हैं। आंगन से मिले हुये बरामदे की छत के कोने

में टाँड़ पर एक गौरैया पंख समेटे, सहमी, दुबकी हुई है। घिनौनी लग रही है। लालटेन मद्धिम करके रखी हुई है। हलके प्रकाश के प्रलोभन से एक छिपकली ऊपर से धीरे-धीरे सतर्क भाव से नीचे रेंगती हुई उतर रही है। मकड़ी के जाले में एक सुन्दर पंखोंवाली नन्हीं-सी, कविता-सी, गीत-सी तितली कहीं से आकर कब की फँसी हुई है।.... बाहर कुएँ की जगत पर लोटा-डोर और अँगौछा रखकर हाथ मटियाते हुए परसादी ने सोचा है—ऊँहू, इस कूटू और सिंघाड़े के आटे की दुकान छोड़ कुछ और धन्धा देखना होगा। न हो माधो भगत की तरह आलू की कचौड़ियाँ ही बेचेगा। आज ही देखो, दो रुपये तीन आने की कुल बिक्री हुई है। इसमें क्या खाएगा, क्या दुकान का किराया देगा, क्या तो बचाएगा! धरम-करम तो लोगों में अब रह नहीं गया है, बरत रखते ही नहीं तभी तो अन्न का यह टोटा है।.... और परबतिया ने उधर तेरहवें में लात दिया है, छाती पर पटिया सी धरी है।.... किशन हलुवाई दुकान बन्द करने लगा। थालों के उठाने-धरने की गति में तेजी आ गई है। मलाई के कसोरे और सारंगी हाथों में लिए, गलों में मालाएँ डाले कत्थक रूप के बाज़ार से घर लौटने लगे हैं। दूधवाली दुकान पर दो चार व्यक्ति किसी गम्भीर समस्या के समाधान में लगे हैं। एक ने बात टालने की नीयत से कहा—कऽ राजाऽ, अब ऐसन कहबऽ?

दूसरे ने तपाक से उत्तर दिया—कहब काहे नाहीं? कौनो कऽ डर पड़ल हौ? जेसे जौन करत बनै तौन कैले। हम त कौनो जबून देखब तऽ जरूरै बोलब।

तीसरे ने बीच बचाव किया—तऽ जाए दऽ। जौन होऐं के रहल तौन होय गयल।

दूसरे ने तमक कर कहा—जाए कैसे देई यार? ई कौनो बच्चा हउअन? ढेंड़क क पंड़वा त होय गइलन। ई काहे नाहीं सोचलन कि चाचा सुनिहैं

तऽ का कहिहैं।

तीसरे ने फिर बचाया—अच्छा, तऽ अब का करबऽ? इनकर जिउ लेबऽ?

दूसरा—लेब नऽ तऽ का छोड़ देब?

वह जो सामनेवाले घर में डाक्टर की अष्टावक्रा युवती कन्या रहती है और जो सौन्दर्य की स्वाभाविक पूँजी से वंचित होने के कारण, विवाह की हाट में अपना मूल्य लगा पाने के लिये, आजकल संगीत की शरण आई है, इसी समय बेसुरा गा उठी— बेला फूले आधी रात, गजरा केकरे गरे डारूँ। हाँ, बेला फूले......

वन्दना अधिक नहीं सुन सकी। नींद उसकी पलकों पर चुपके से उतरना चाह रही है।....छत पर दो बिल्लियाँ लड़ रही हैं। उनकी गुर्राहट की आवाज़ डरावनी लग रही है। वन्दना कल्पना कर सकती है कि दोनों के रेशम-से मुलायम रोएँ वन्दना के पुराने बाल झाड़ने के ब्रश के बालों-से कड़े और खड़े हो गए हैं और यह कि एक काली है, दूसरी सफ़ेद।....कुएँ की जगत के नीचे किनारे एक छोटी-सी, तहख़ाने-सी कोठरी है। उसके बाहर तन्द्रा में दुबका कलुआ दूर से दो पुलिस के सिपाहियों को गश्त पर आते देख भूँक उठा। और तभी कलुआ का स्वामी रामनाथ नाई का भाई गनपत, जो कई बार चोरी और सेंध लगाने के जुर्म में सज़ा भुगत आने के बाद अब भगत बन गया है और जिस पर निगरानी होती रहती है, कोठरी के अन्दर से अपनी खंजरी पर बेताला गा उठा—ठगिनी, क्यों नैना झमकावै।

राम राम सिपाही जी।

राम राम। क्यों बे, क्या हो रहा है?

हं! हं!, गा रहा हूँ सिपाही जी। बीड़ी दूँ?

खट् खट् खट्।

जब तक 'वह' आ नहीं जाते, वन्दना नीचे आँगन में ही पड़ी रह जाती है। कुछ तो डर, कुछ इस आशंका से ऊपर नहीं जाती कि उन्हें आकर देर तक द्वार पर प्रतीक्षा करनी होगी। आँख लग ही गई तो क्या करेगी?

खट् खट्।

वह जल्दी से उठी। 'वह' आ गये। द्वार की अर्गला पर हाथ रख नित्य के स्वभाव के अनुसार पूछा—कौन?—और द्वार खोल दिया।

बाहर के अंधकार में से, समीप ही से उत्तर आया—मैं हूँ बिन्दो।

स्वर भी संज्ञा बनने की क्षमता रखता है। कभी-कभी इतनी एकात्मता हो जाती है। शिवनाथ अन्दर आये।....कोने में रखी लालटेन धूँआ देकर बुझ गयी।

थोड़ी देर बाद। शिवनाथ चुपचाप भोजन कर रहे हैं। वन्दना पंखा लेकर बैठी है। पति की ओर देखकर उससे रहते न बना, पूछा—क्यों इतना काम करते हो जी? सुबह के गए हो।

शिवनाथ चुप।

वन्दना—इतनी-इतनी रात तक घर में मुझे अकेली छोड़कर काम करने से कैसे चलेगा?

प्रश्न नित्य का था और उत्तर भी नित्य का ही झुंझलाहट भरा मिला—चल रहा है वन्दना। चल ही तो रहा है!

वन्दना—जानते हो कितना बजा है? पंडित जी के घर अभी थोड़ी देर पहले रेडियो में आखिरी घंटा बजा है।

शिवनाथ ने फीकी हँसी से समझाया—हमारे तुम्हारे भाग्य में रेडियो सुनते-सुनते सो जाना नहीं लिखा है।

वन्दना यह हँसी झेल नहीं सकी, हँसी के पीछे का मर्मच्छद उसके लिए कठिन हो आया। कितना निष्ठुर व्यंग कि उसका भाग्य भी अब

उसका अपना नहीं है। यह प्रकरण इस समय, यहाँ, उभारने से क्या कोई लाभ सम्भव है? उँह, होगा।

शिवनाथ के खा चुकने पर हाथ पोंछने के लिये आँचल बढ़ाते हुये बोली––माना कि नहीं लिखा है पर तुम भी आदमी हो। यह भूलने से कैसे चलेगा?

किसी गहन अँधेरी गुफ़ा से शिवनाथ के स्वर आए––और तुम क्या हो?

वह क्या है? बचपन में उसकी कल्पना तीन खंडोंवाले भवन में रहने की थी न! खुली खिड़की से बाहें बढ़ा रात-रात जागकर यामिनी के आँचल से टूटकर गिरते तारों को अपने आँचल में समेटते रहने की उसकी साध थी न! तब उस कल्पना में उस भवन का स्वामी पुरुष था एक राजकुमार! लाला कृष्णसहाय के छोटे से प्रेस का एक साधारण-सा वैतनिक कर्मचारी शिवनाथ उस कल्पना के घर में स्थान नहीं पा सकता था। और जब भवन का स्वामी राजकुमार था तब वह भी रानी ही हो सकती थी। उससे कम कुछ नहीं। किन्तु अब तो उस कल्पना का खंडहर मुँह चिढ़ाता है। वह दिन तो अब बहुत दूर रह गए हैं। अब तो उन दिनों की स्मृति भी डरते-डरते उसके पास आती है।

खुली छत पर चारपाई पर पड़े हुए शिवनाथ ने एक बार सूनी दृष्टि से दार्शनिक की भाँति आकाश की ओर देखा। वन्दना की ओर घूमकर कहा––पागल हो तुम बिन्दो। यह भ्रम दूर ही करो कि हम-तुम आदमी हैं। मैं तो यह भूल ही चुका हूँ, तुम भी भूल जाओ। मैं कहता हूँ, जीवन सत्य नहीं है। यह रंग-विरंगा जगत मिथ्या है। सत्य है केवल पैसा।

वन्दना की दृष्टि कहीं दूर जमी थी। आँखें उसकी पनियारी होती आ रही थीं। वह चुप ही रही।

शिवनाथ ने कुछ रुककर फिर कहा—यह गोला-गोला-सा चाँद देख रही हो न? ऐसा ही चमचम चमकता है पैसे का मुँह। पैसे के उस चमचम गोलाकार में समस्त ब्रह्मांड को काँपता देख सकती हो।

यह उनके हृदय का सत्य अनजान में बोल रहा था।

नहीं। वन्दना यह कैसे मान ले? कैसे ग्रहण कर ले? अब भी उषागम पर पक्षियों का कल-कूजन होता है। दूर, बादलों के पंखों पर सूरज का सतरंगी रथ भागता है। राका की चाँदी की थाली-सा चन्दा पसा नहीं है। निर्झर झर-झर करता है, आकाश से अमृत झरता है। धरती की प्यास साँस रोके गगन का मुँह जोहती है। अब भी मरण की घटाटोप अँधियारी के बीच से जीवन ही जयमान होता है। जीवन ही आगे बढ़ता है, अपनी ही प्रवहमान चेतना के साथ, और दुख के क्षण ठिठुरे, सहमे और मूक, उस अबाध जीवनधारा को निहारते रह जाते हैं।

शिवनाथ जैसे अपने से कह रहे हों—बाबू का ऋण भाइयों ने नहीं चुकाना चाहा। वह निश्चिंत हो गए पर मैं नहीं हो सका। तुम्हारे जो दो चार गहने थे, एक नथ को छोड़कर, वह भी पेटाय स्वाहा। तीस रुपये मासिक की बिसात ही क्या है, सो रात-रात भर जागकर ओवर-टाइम करता हूँ। फिर भी कहती हो कि मैं आदमी हूँ। आदमी ऐसा ही होता है? आदमी हैं लाला कृष्णसहाय जो इस समय नैना की गोद में पड़े सुखनिंदिया ले रहे हैं। आदमी है किशन हलुवाई जो अभी अपनी तोंद की तरह ही फूली रुपयों की थैली लेकर घर गया है और तिजोरी खोलकर रख रहा है।....बिन्दो, नींद मुझे भी आती है। सोना मैं भी जानता हूँ। मेरे साथ रह कर तुम भी जानवर बन गई हो।

गली के कोने में स्थित सफ़दर जुलाहे के घर से मुर्ग़ों ने एक साथ बाँग दी। छत की मुंडेर से लगे पीपल की डालों पर से हवा का एक झोंका शाँ-शाँ करता निकल गया।

वन्दना द्रव रही है। इस भीरु, भाग्यकातर, जीवन संग्राम में हारे हुए व्यक्ति लिए उसके मन में करुण उपज रही है। आज निरीह और अक्षम पति की बात पर क्षण भर के लिए उसने बुझे मन से सोचा-भाग्य है तो रहे, अपनी जगह वह ठीक, है पर उसे लेकर हमारी चेष्टाएँ क्यों बँधे? नियति के नियंत्रण से हमारी अपनी गति क्यों कुंठित हो रहे? अदृष्ट के अलक्ष्य हाथ हमारी अवाध कर्मधारा पर बाँध क्यों बाँधें? क्या यही सही नहीं है, यही ठीक, शिव, और सुन्दर नहीं है कि मानव मानव बन कर रहे? किसी अनजान और अबूझ के हाथों का खिलौना मात्र बनकर न रह जाय? चलना उसका काम है, चलता रहे। रुकने का नाम मृत्यु है, वह एक दिन ही होगी।

सबेरे की मीठी बयार ने उसकी पलकों को धीरे-धीरे बन्द कर दिया।

दो

आँगन में बेला के फूलों की सुहावनी सेज लगी हुई थी। परसादी की दूकान से प्रात:समीरण के साथ घुलीमिली नारी कण्ठों की समवेत गुंजार वन्दना के कानों में मधुवर्षण करने लगी——

सास देले गोहुआँ हो रामा, ननदी चंगेरिया।
गोतिनी बइरिनियाँ हो रामा भेजल जंतसरिया।
घोड़वा चढ़ल हो लछुमन करइ पुछसरिया।
केंकरी तिरियवा हो रामा रोवइ जंतसरिया॥

गीत यद्यपि करुण था किन्तु अनायास ही हवा के पंखों पर तिरते आते हुए स्वरों ने वन्दना को माधुर्य्य से भर दिया, मात्र एक क्षण के लिए। क्षण भर बाद ही उसके मन में सब कुछ विषाक्त हो उठा। उषागम की लजवन्ती हवा, आँगन में बिखरे बेले के फूल और रात के देखे सपने का कुहक जाल, सब एक क्षण में ही उसके मानस——नेत्रों के सामने से हट गये। उसे मालूम हुआ जैसे कोई और नहीं, वही बिसूर रही है। किसी और के नहीं, उसकी अपनी ही आँखों से आँसुओं की अजस्र धारा बह रही है। परदेसी पीतम——घोड़वा चढ़ल लछुमन——और

कोई नहीं, शिवनाथ है जो दीन है, दुखी है, अक्षम है और वह उसे रोती देख पुकार-पुकार कर पूछ रहा है—बोलो लोगों, यह कौन स्त्री रो रही है?

बड़े नगरों की व्यस्तता में न उषा का आगमन जान पड़ता है न दिन का विदा होना। सब कुछ जैसे एकरसता और विरसता के अनवच्छिन्न क्रम में डूब जाता है। न दिन जागता है न रात सोती है। उषा की लाली में न तो रात रानी के अनियारे दीरघ-दृग-सम्पुटों का खुलना देख पड़ता है, न संध्या के घिरते आते अन्धकार में दिन के अलसाए नेत्रों का मुँदना। विवाह के बाद इस घर में आने पर पहले दिन वन्दना को परसादी की दूकान से प्रभाती के साथ आते हुए जंतसार के गीतों के स्वर सहसा ही बहुत मधुर लगे थे। उस दिन भी यही करुणा इस गीत से झर रही थी। वन्दना ने चाहा था कि पति से इस गीत का मर्म समझ ले किन्तु उस दिन साहस नहीं हुआ। उसके कई दिन बाद उसने पुरबिया को बुलवाकर परसादी से यह पूरा गीत लिखकर मंगवाया था और अर्थ भी जान लिया था।....भोर हो गई है। सुसराल के घर में कोई युवती जाँता पकड़ कर बिसूर-बिसूर कर रो रही है। नाते-गोते के पति के जितने सम्भव-असम्भव संबंधी थे, सबने ही उस पर, दुखी और अक्षम और निरुपाय जान, जी भर कर अत्याचार किया है। पति बाहर गया है तभी अवसर और सुविधा अधिक है। परदेसी पीतम आता है और दूर से रोने के स्वर सुनकर सबसे पूछता है कि यह कौन स्त्री रो रही है।

शिवनाथ ने नीचे से पुकारा—विन्दो! उठ गई हो क्या? मेरी धोती दे देना।

वन्दना जल्दी से उठी, आँचल से आँखें पोंछ डालीं। यह अशुभ बात वह कैसे कर सकती है! पति के काम पर जाते समय वह रोयेगी? छिः।

शिवनाथ ने धोती वन्दना के हाथ से लेते हुए एक बार उसकी ओर देख लिया। क्षण भर ठहर कर कहा—बिन्दो, तुम रो रही थीं!

आँख में आँसू नहीं थे फिर भी वन्दना ने एक बार आँखें पोंछ डालीं। शिवनाथ की निश्चयात्मक उक्ति के बाद यद्यपि वन्दना की ओर से उत्तर का प्रयोजन नहीं था किन्तु हँसने की व्यर्थ चेष्टा करती हुई बोली—पागल हुए हो? मैं क्यों रोने लगी?

शिवनाथ—तुम कब क्यों रोने लगोगी, इसका कोई भरोसा है? पुरुष सब जान सकता है, यही नहीं जान पाता कि स्त्रियों की आँखों में आँसुओं का इतना बड़ा सागर कहाँ दबा पड़ा रहता है। और कब, किस प्रयोजन से, किस घड़ी उस सागर में ज्वार आ जायगा यह भी विज्ञान के पंडित नहीं जानते। पर, इस समय तुम रो रही थीं, यह सही है।

वन्दना ने फिर अनर्गल प्रश्न किया—तुमसे किसने कहा कि मैं रो रही थी?

शिवनाथ ने इसका उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर बाद पति के सामने रात की बची रोटी और साग जलपान के लिये रखते हुए वन्दना ने पूछा—अच्छा, क्या तुम मेरे मन की बात जान लेते हो?

शिवनाथ ने मुँह ऊपर उठाया, कहा—तीन वर्षों से तुम मेरे साथ हो बिन्दो। जिस दिन भाँवरें फिर कर मेरे साथ आयीं, उसके बाद से फिर तुम्हारा जाना नहीं हुआ। तुम जानती हो, अपनी ग़रीबी के कारण मुझे भेजने का साहस ही न हुआ। तुम्हारे हाथों में एक छल्ला भी तो न था, किराए के लिये भी मुझे उधार लेना पड़ता। मैं तुम्हें खिला पहना नहीं सकता लेकिन तुम्हारे आँसुओं को भी न पहचानता होऊँ, ऐसा अबूझ नहीं हूँ। तुम मुझे क्षमा कर दो बिन्दो।

शिवनाथ के अन्तर-मन की विवशता इस समय उघारी हो गई थी।

'क्षमा' शब्द पर वन्दना जल उठी। अपनी अक्षमता और कदर्यता को इस शब्द की आड़ लेकर महानता की चादर ओढ़ाना वन्दना को अपने अस्तित्त्व का उपहास लगता था। उसकी आँखों में क्षण भर के लिये ज्वाला जल उठी। एकदम कह उठी—क्षमा माँग लेने से ही सब समस्याओं का अन्त नहीं हो जाता यह तुम भी जानते हो। कितनी बार तुम इस शब्द को दुहरा चुके हो। अब और कितनी बार कहना चाहते हो?

भारी गले से शिवनाथ दयनीय बनकर पाखंड छोड़ बोले—तो क्या करूँ बिन्दो? जिसका कोई अपराध नहीं उसी की पीठ पर तो मार का बोझ पड़ता है! ऐसा न होता तो तुमको ही क्यों मेरे साथ रह कर यों अपने को नष्ट करना पड़ता? बोलो तो!

भोली-भाली वन्दना पति का बना हुआ रूप नहीं पढ़ सकी। कौन सी बात, कहाँ, किस क्षण जाकर कितना बड़ा आघात पहुँचाती है! उसे वरण कर उसके पति ने किसी दिन भूल की थी और उसका दंड उन्हें भुगतना पड़ रहा है, यह अपवाद और लांछन ही इस समय उसके मन के द्वार पर धक्के दे देकर उसे विचलित करने लगे और उसकी साधना और सेवा के व्यतीत क्षण इस समय उसकी जीवन्त साध के चरणों पर लोट-लोट कर अपनी चरम व्यर्थता में स्वयं ही मरने लगे। छाती में कुछ उमड़ घुमड़ कर उसे भाराक्रान्त करने लगा। उसने केवल आँख उठाकर फटी दृष्टि से पति की ओर देखा। उस दृष्टि में धीर-धरित्री की छाती फोड़कर उभरने वाले ज्वालामुखी की ज्वाला उफन रही थी। उसने वाणी में आग भर कर कहा—मैं अपने को नष्ट कर रही हूँ या नहीं यह मुझे तुमसे नहीं पूछना है किन्तु तुम क्यों दण्ड भोग करते हो? एक बार साहस करके कह दो न, मैं चली जाऊँ। तुम छुट्टी पा जाओ।

शिवनाथ के शरीर में सुई लगाकर जैसे किसी ने सम्पूर्ण रक्त

निकाल लिया हो। विवर्ण मुख से इतना ही पूछा—कहाँ जाओगी बिन्दो ?

वन्दना को इस समय न जाने क्या हो गया था, उसी स्वर में बोली—तुम समझते हो, तुम्हारे बिना मेरी कोई गति नहीं है तभी तुम यह व्यंग्य कर रहे हो। मेरे माँ-बाप ग़रीब सही, निर्धन सही पर मुझे खिलाने-पिलाने की क्षमता उनमें है। मैं नहीं जानती थी कि उस दिन की भूल का परिणाम तुम्हारे लिये इतना भयानक हो उठा है। मैं पूछती हूँ, तुम उस झूठ को सच बनाकर मानते ही क्यों हो ? इसकी क्या ज़रूरत है ? कोई और स्त्री भी तो.........

आश्चर्य है कि शिवनाथ इतने पर भी विचलित नहीं हुए। केवल फीकी हँसी हँसते हुए वन्दना की बात काटकर किताबों में पढ़ी हुई बात धीरे से कहा—सत्य ही तो है बिन्दो। तुम सब बातें नहीं समझोगी। बस, इतना याद रखो कि जो सत्य है वह मिथ्या की घटाटोप अँधियारी में भी सत्य ही रहेगा। बादल सूरज को क्षण भर के लिये ढँक ले सकते हैं, और कुछ नहीं। उसका लोप नहीं हो सकता।

इतनी बड़ी-बड़ी बात वन्दना सच ही नहीं समझ सकती थी। वह चुप रह कर केवल देखती रही। शिवनाथ ने फिर किताबी ज्ञान बघारा—और जो तुमने किसी और स्त्री की बात कही बिन्दो, तो वह तुम्हारे क्रोध की बात है। नहीं तो, तुम भी जानती हो कि पाना जिसे कहते हैं वह जीवन में एक बार होता है। तुम क्या किसी और पुरुष के साथ रह सकती हो ? यह तुमसे सम्भव होगा ?

वन्दना एकदम चीख़ उठी—चुप रहो। जो जी में आता है, बकते जा रहे हो ! समझते होगे कि मैं स्त्री हूँ, निरुपाय हूँ, सब सहलूँगी। फिर पास आकर शिवनाथ की आँखों में आँखें डालकर बोली—तुम लोगों को पाप से डर नहीं लगता क्या ? ऐसी बात कोई स्त्री सुन भी

सकती है? फिर कभी ऐसी बात मुँह से निकाली तो तुम्हारे पावों पर सिर पटक कर प्राण दे दूँगी।

शिवनाथ को काम पर जाने की देर हो रही थी। उठ खड़े हुए और वन्दना के सिन्दूर-दीप्त मस्तक पर हाथ फेरते हुए सच ही कहा—तुझ जैसी पगली के लिए यह भी कठिन न होगा, यह जानता हूँ।

उस दिन फिर किसी काम में वन्दना का मन नहीं लगा। शिवनाथ के चले जाने के बाद भी वह बहुत देर तक वहीं बैठी रही, फिर उठकर चारपाई पर लेट रही। सब कुछ उसे कड़ुवा, व्यर्थ और वीभत्स लगने लगा। बात कुछ नहीं थी किन्तु उसे ही लेकर सबेरे से जो अनुयोग-अभियोग का तांडव होने लगा उसका औचित्य वह इस समय ढूंढें भी नहीं पा रही थी। विवाह के तीन वर्षों में ऐसे अवसर अनेक बार आए हैं, अनेक बार उसकी ओर से प्रच्छन्न प्रश्न उठे हैं और पति की ओर से वैसे ही प्रच्छन्न उत्तर मिले हैं, बहुत बार आग और पानी ने मिलकर गृहस्थी में संधि-विग्रह के क्षण उपस्थित किए हैं। यह सब कुछ नया नहीं था। हृदय की बात मुँह तक ले आने का स्वभाव उसके पति का नहीं रहा है। उनके दाहिने हाथ ने कब, क्या किया इसका पता उनके बाएँ हाथ को भी कठिनाई से चल पाता है। स्वामी अक्षम थे, अपनी दीनता में स्वयं ही विनीत थे, अपनी निरुपायता में निरीह थे, वेदना, कष्ट और अभावों से निरन्तर जूझते रहने के कारण उनकी वाचालता यत्नसाध्य मौन में परिणत हो गई थी। वह आघात सह सकते थे, किसी को आघात पहुँचाना उनके लिये सम्भव ही नहीं था। चुप रह कर कोई व्यक्ति जीवन का कितना विष, कितना हलाहल, कितनी कटुता लाचार होकर पीता रह सकता है, वन्दना को पति के रूप में इसका मूर्तिमान् उत्तर मिला था। शिवनाथ के इस स्वभाव को लेकर उसके मन में कभी-कभी भारी उलझन भी हुई है। जब जब उसने स्वामी की

इच्छा के प्रतिकूल उनके दुर्भेद्य मौन को छेड़ना चाहा है तब-तब उसे निराशा हुई है। आज भी शिवनाथ ने अपने भीतर की उथल-पुथल का परिचय वन्दना को नहीं पाने दिया किन्तु असावधानी के एक क्षण में ही उनके अन्तस का जो करुणासिक्त सत्य बाहर निकल आया वह वन्दना के लिये नया था। उसके किस अपराध पर शिवनाथ के मुँह से आज निकल गया कि एक क्षण की, एक दिन की भूल का वह दण्ड भुगत रहे हैं! उसके वरण का अभिशाप क्या पति के लिए इतना जीवंत हो उठा है? वह क्या इतनी अभागिन है कि स्वामी को पाकर भी नहीं पा सकी? उसके नन्हें से साध भरे, दुलार भरे, प्यार भरे हृदय का यही क्या प्रयोजन है कि वह एक दिन जिसे आग, पानी, हवा को साक्षी बनाकर पति रूप में ग्रहण कर चुकी है उसकी कठोरता और अवहेलना के चरणों पर सिर धुन-धुनकर मरती रहे? सिन्दूर की दीपित लालिमा एक क्षण के लिए भी धूमिल न हो, इस चेष्टा में अपने हृदय का रक्त निचोड़-निचोड़ कर उस रेखा को रागभरी और सुहागभरी बनाती रहे? उसके स्वामी आज उसे इतना मर्मान्तिक आघात दे गए?

किन्तु स्वामी ने यह भी कहा था—पाना जिसे कहते हैं वह जीवन में एक बार होता है। यह उन्होंने क्यों कहा? बड़ी-बड़ी बातें न समझ पाने की अक्षमता होते हुए भी यह इतना स्पष्ट संकेत था कि चाहने पर भी वन्दना अपने को इससे अछूती नहीं रख सकती थी। शायद सब आक्षेप-अभियोगों के अन्दर से, सब अभावों के भीतर से, समस्त मिथ्याओं के आल-जालों में से पति के हृदय का यही निगूढ़ सत्य अभेद्य रक्षाकवच बन कर निशिवासर उसकी रक्षा करता रहता था। वह रात अभी तक उसकी स्मृति में सजीव है जब उसके पिता की मृत्यु हुई थी। जाड़े की रात में सब कुछ ठिठुर कर, सिमट कर सो गया था। मरण की विभीषिका से भरे उस घर की कोठरी में पृथ्वी पर एक आकृति पड़ी हुई थी जिसे शव

बनने में कुछ ही क्षणों की देर थी। थोड़ी दूर पर वैसी ही निस्पंद और निष्प्राण दिए की लौ, अपने को स्नेह से रिक्त करके भी, काल को पथ दिखाने के लिए टिम-टिम जल रही थी। वन्दना चुपचाप उस मुमूर्षु की ओर देखती हुई स्तब्ध बैठी हुई थी जिसकी गोद में चढ़कर उसने न जाने कितने उपद्रव एक दिन किए थे, जिस पर न जाने कितनी बार रूठी थी, जिससे न जाने कितना मान किया था और जिसने एक दिन आँखों में आँसू भर कर, कण्व की भांति उसे पालकी पर चढ़ाकर पिया के देस विदा किया था। आज उसका वही कण्व, वही जन्मदाता, वही पिता स्वयं जगत से नाता तोड़ रहा था, सदा के लिये विदा हो रहा था। उस दिन जब वह विदा हो रही थी तब उनके नेत्रों में आँसू थे, मुख पर हंसी। आज स्वयं अपनी चिरविदा के समय उनके मुख की मुसकान और नेत्रों के आँसू न जाने कहाँ चले गए हैं।....दीपक का रहा-सहा स्नेह चुक रहा था। अन्तिम हिचकी आई और सब कुछ समाप्त हो गया। वन्दना पागल हो कर उठी और उसके आंचल की हवा से दीपक उलट गया। उसके पांव झुलस गए किन्तु वन्दना पिता के शव पर लोट-लोटकर निदारुण विलाप करती रही। उसी समय शिवनाथ काम से लौट कर आये थे।

कुछ दिनों बाद एक दिन रात को शिवनाथ उसके पांव की पट्टी खोल कर दवा लगाने जा रहे थे। वन्दना ने अपने आंसू पोंछते हुए कहा— कितना बड़ा पाप कर रही हूँ मैं, यह मैं ही जानती हूँ।

शिवनाथ समझ गये कि संकेत किस ओर है। उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया, गर्वित हो लिये किन्तु बनकर चुपचाप अपना काम करते रहे। वन्दना से रहते न बना, फिर बोली—एक दिन तुमने कहा था कि मेरे पांव बहुत सुन्दर हैं। कहा था न, याद है?

शिवनाथ फिर भी चुप रहे, केवल हलके हाथों से जले हुए स्थल सुहलाते रहे। वन्दना के उजले-उजले, कबूतरी के नन्हें पाँवों से पाँव उनकी

पुरुष गोद में पड़े रहे। वन्दना कुछ क्षण बाद फिर बोली—भगवान किसी का गर्व नहीं रहने देना चाहते, यही न! तुम्हारे मुँह से अपने पाँवों की प्रशंसा उस दिन सुनकर मैंने मन ही मन दर्प से भरकर सोचा था—मुँह की सुन्दरता पर तो सब रीझते हैं। आज मेरे स्वामी ने मेरे पाँवों की सुन्दरता बखानी है। ऐसा सौभाग्य कितनी स्त्रियों का होता है? आज भी क्या मैं वैसा ही गर्व कर सकती हूँ?

शिवनाथ ने मुँह के भावों में किंचित् परिवर्तन न लाते हुए इस बार उत्तर दिया—विवाह के बाद की कुछ पागलपन की घड़ियाँ तुम्हारे लिए इतना महत्त्व रखती हैं बिन्दो?

वन्दना ने एक सांस भर कर कहा—तुम पुरुष हो न, नहीं तो जानते कि उन कुछ पागलपन की घड़ियों की पूँजी को लेकर ही नारी जीवन भर व्यवसाय किया करती है। जब बाजार उठ जाता है और स्त्री अपनी कमाई का लेखा-जोखा करने बैठती है तब पाती है कि उसकी कन्था में यही कुछ क्षण सत्य हैं, और सब झूठ।

शिवनाथ ने क्षण भर के लिये हाथ रोक दियाथा, उनके उधार ज्ञान को चुनोती मिली थी, पूछा था—यह तुम्हारे मुँह की बात तो नहीं है वन्दना?

वन्दना—नहीं, मुँह की बात नहीं है। यह मेरे अन्तर का धन है। यही स्त्री का सच्चा परिचय है।

शिवनाथ ने पट्टी यथास्थान बाँधते हुए और अपनी स्मृति को कुरेदते हुए कहा था—क्या जाने बिन्दो! स्त्री तो हुआ नहीं, नहीं तो इस झूठ का अनुभव कर पाता। स्त्री अपने जीवन भर के सौदे में क्या पाती है क्या नहीं यह नहीं जानता किन्तु पुरुष के अन्तर का धन क्या है, यह तुम जानती हो?...... जाने दो। उसका परिचय पाने के लिये स्त्री को अपना जीवन निःस्व करना पड़ता है। स्त्री अपनी दूकान बढ़ाकर निश्चिन्त हो जा सकती है, पुरुष अपने को छुटकारा नहीं दे सकता।

वन्दना के पास तर्क प्रस्तुत था—अगर ऐसा होता तो लोग ज़रा-ज़रा सी बात पर अपनी स्त्रियों को छोड़ न देते।

शिवनाथ ने ऐसे भाव से उत्तर दिया जैसे यह स्वयं उनकी बात हो—वहाँ सच्चा बन्धन है ही नहीं। मैं जिस बन्धन से छुटकारे की बात कह रहा हूँ वह कभी किसी युग में किसी के द्वारा सम्भव नहीं हुआ है।

वन्दना मन ही मन प्रसन्न हुई, कहा—क्या पति-पत्नी का सम्बन्ध इतना गहरा है! पति-पत्नी का प्रेम इतना चिरस्थायी है?

शिवनाथ—स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध इतना ही गहरा है बिन्दो! प्रेम इतना ही चिरस्थायी है। उसे पति-पत्नी की सीमा में मत बाँधो। वह सीमातीत है और पति-पत्नी भी उसी का एक अंश पाकर धन्य हो उठते हैं।

उस दिन अपने भोलेपन में पति के हृदय का किंचिन्मात्र आभास वन्दना को हो गया था। इस बात की सुधि आते ही उसके मन:प्राण में रस का सागर उमड़ पड़ा। कानों में स्वामी के एक-एक शब्द शहनाई के स्वर से गूंजने लगे। क्षण भर पहले की सब तिक्तता पलमात्र में न जाने कहाँ विलीन हो गई और उसके स्थान पर एक अकल्पित सुख से वह विभोर हो उठी। आनन्द की उस चरम अनुभूति के बीच दिन कब ढल गया, कब साँझ की छाया आँख बचाकर आँगन में उतर आई, कब भावनाओं में डूबती-उतराती उसने रसोई में जाकर खाना बना डाला और कब नित्य की भाँति आधी रात तक प्रतीक्षा करने के लिये बैठ गई, उसे मालूम ही नहीं हुआ। उसके हृदय का समस्त स्नेह आज पति पर, पति के चरणों पर लुट जाना चाहता था।

वही उदास काला समय। शिवनाथ के आकर मुँह धो चुकने पर वन्दना ने थाली परोस दी और वह चुपचाप भोजन करने लगे। लगता था कि उनके हाथ चल नहीं रहे हैं। वन्दना ने पूछा—क्यों, खाना अच्छा नहीं बना क्या? खाते क्यों नहीं?

शिवनाथ—नहीं, नहीं। ठीक है। खा तो रहा हूँ।

वन्दना—आज दिन भर में क्या सोचती रही, जानते हो?

शिवनाथ—क्या सोचती रहीं?

वन्दना ने धीरे से कहा—एक दिन मेरा पांव जल गया था। तब तुमने उस जले हुए पांव को लेकर दिन रात एक कर दिया था। आज इस जले मुँह से मैं तुम्हे न जाने क्या-क्या कह गई पर तुम सिर झुकाए सुनते रहे। क्या मुझे रोक नहीं सकते थे? क्या अब मैं तुमसे इतमी दूर हो गई हूँ कि तुम थप्पड़ मार कर मेरा मुँह बन्द नहीं कर सकते? यह क्या? हाथ क्यों रोक लिया?

शिवनाथ क्षण भर चुप रहे फिर उठते हुए बोले—बिन्दो, देर बहुत हो गई है। तुम भी खा लो।

फिर वैसा ही उत्तर! प्रश्न को सदा की भाँति टाल देकर शिवनाथ ऊपर सोने चले गए। वन्दना जल्दी से खा-पीकर आई और पलंग पर बैठ कर बोली—तुमने सबेरे अपने दण्ड की बात क्यों कही? तुम समझते हो, मैं पत्थर की बनी हूँ? बोलो, क्यों कही ऐसी बात?

और समय होता तो शिवनाथ उत्तर न देते किन्तु शब्दों के साथ निःसृत हृदय की तरलता ने उन्हें फिर छल करने पर, बोलने पर बाध्य किया। कहा—दण्ड क्या अकेले एक ओर का ही होता है बिन्दो? माँ बच्चे को मारती है तब बच्चे की चोट सब लोग देखते हैं। उस चोट से कई गुना बढ़-कर चोट माँ को लगती है, यह कौन देखने पाता है?

वन्दना के आँसू रुक नहीं पा रहे थे, फफक कर रो पड़ी। 'मुझे क्षमा कर दो'—कहकर प्रबल वेग से रुलाई रोकने की चेष्टा में उठकर शिवनाथ के चरणों पर गिर पड़ी किन्तु एक क्षण में ही विद्युत्-वेग से उठकर बोली—यह क्या? तुम्हें तो ज़ोर का बुखार चढ़ा है! तब तुमने खाया क्यों?

फीकी हंसी हँसकर, ऊँचाई से शिवनाथ ने कहा—न खाता तो तुम भी न खातीं!

तीन

वन्दना नीचे स्वामी के लिये पथ्य बना रही थी। रात अधिक नहीं हुई है, लगभग नौ बजे होंगे। घर-आँगन में अन्धकार वन्दना के हृदय के अंधकार जैसा घना और गहरा होकर जम गया है। वह अंधकार, जिसकी छाती फोड़कर प्रकाश की एक किरण पाने के लिये प्राण तड़प-तड़प उठते हैं पर जिसका कोई कूलकिनारा नहीं मिलता। उस दिन के बुखार ने न जाने कैसा रूप धारण किया कि इन तीस दिनों में एक दिन भी वन्दना पति को लेकर शान्त सुस्थ, निश्चिन्त नहीं बैठ सकी। एक क्षण के लिये भी स्वस्ति की साँस नहीं ले सकी। ज्वर कम होता तो मन्दाग्नि सताती, मंदाग्नि ठीक होती तो संग्रहणी उभर कर कष्ट देने लगती। प्रकृति के दिए हुए शरीर के साथ व्याधियाँ तो अनेक हैं किन्तु स्वस्थ और सबल शरीर पर उनका वश नहीं चलता, वह भी निराश होकर लौट जाती हैं। शिवनाथ को इन सब ने मिलकर कुछ दिनों में ही अस्थिकंकाल सार बनाकर छोड़ दिया। डाक्टर, वैद्य और ओझाओं के पास दौड़ते-दौड़ते वन्दना के तलवों में फफोले पड़ गए। किसी ने वन्दना का अपरूप-रू देखकर औषध के मिस फुसलाए रखा, किसी ने अपने ज्ञान के भ्रम में भुलाए रखा और किसी ने धीरज धरने और लगकर उपचार करने

की सलाह दी किंतु उसके जीवन में घिरते आते अन्धकार को प्रकाश में बदलने की क्षमता किसी ने अपने में न देखा। क्षण बीतते गए और दुख के दिन जाड़ों की लम्बी रातों की भाँति उसके लिए भारी और अशेष होने लगे।

आज वन्दना कुछ अवकाश में थी। स्वामी आज कुछ स्वस्थ थे, कम से कम वह अपेक्षाकृत आज अधिक निरुद्वेग थे। वन्दना ने संध्या हो जाने पर आंगन में बैठकर जी भर कर नहाया था और केश पीठ पर खुले छोड़ दिए थे। बरसात की काली घटा की भाँति उसके चन्द्रानन को घेर कर वह लहरा रहे थे। चूल्हे में दो चार लकड़ियाँ जल रही थीं, मद्धिम आँच थी, मूंग की दाल चढ़ी हुई थी और वन्दना एकटक उन जलती लकड़ियों की ओर देखती हुई सोच रही थी—अब यह अच्छे हो जायेंगे। यदि ऐसे ही कुछ दिन रह गए तो हे महावीर स्वामी, तुम्हें सवा रुपए के लड्डू चढ़ाऊँगी। कितना भोगा है मैंने इन्हें लेकर, अब तो दया करो। इनको कुछ हो जाता है तो मेरे प्राण नहों में समा जाते हैं, कहाँ जाऊँगी, क्या करूँगी। कोई बात पूछने वाला भी तो नहीं है! मतलब को सब हैं। कहने को तो प्राणनाथ इनका भतीजा है न! पटने में मजे में खाता कमाता है। कैसा टका-सा जवाब मेरी चिट्ठी का दे दिया कि काकी, इस समय हाथ एकदम खाली है। कहो तो काट-कूट कर दस पाँच रुपए कहीं से भेज दूँ। तुम रखे रहो अपने दस-पाँच रुपए, मुझे यह भीख नहीं चाहिए। मैं बाहर वालों से भीख माँग लूंगी पर अपनों से भीख न लूंगी। दस-पाँच रुपयों में, पूछो भला, इनकी रोगी देह को लेकर क्या करूंगी? तुम्हारा एहसान भी लूं और काम कुछ न बने। कौड़ी-कौड़ी जोड़ कर जो जमा-पूँजी बची थी वह लगा दिया और इनको एक बार उठाकर खड़ा कर दिया।

द्वार पर किसी ने कुंडी खटखटाई। इतनी रात को कौन आ सकता है! वन्दना की चिन्ताधारा में व्याघात पहुँचा, पुकारा—कौन है?

मैं हूँ बहूजी, रामदीन।—एक लड़के का स्वर आया।

वन्दना ने उठकर द्वार खोल दिया। रामदीन ने अन्दर आकर एक कागज वन्दना के सामने बढ़ा दिया। वन्दना उसे लेकर लालटेन के पास गई और पढ़कर स्तब्ध हो रही। क्षण भर पहले का आत्मगौरव और संतुष्टि से भरा मुख सहसा ही रक्तहीन और विवर्ण हो गया। लगता था जैसे उस मुख पर कभी प्रकाश हँसा ही नहीं, कभी हंसी खेली ही नहीं। कमल खिलने के पूर्व ही जैसे मुरझा गया हो। अशेष अनन्त काल के मुहूर्त मात्र में जैसे चहकता-लहकता यौवन अनायास चिर-वार्द्धक्य के हाथों बिक गया हो। क्षण भर में ही बीस वर्षों की वन्दना बयासी वर्षों की अवधि पार कर गई।

रामदीन ने धीरे से कहा—बहूजी!

वन्दना—अच्छा रामदीन, तुम्हारे बड़े बाबू के मन में क्या दया-धरम कुछ नहीं है? देख तो रहे हो अपने मैनेजर बाबू की हालत! क्या तुम्हारे बड़े बाबू मुर्दे से भी काम कराएंगे?

रामदीन बहुत दिनों से प्रेस की डाक आदि घर लाया करता था, शिवनाथ बाबू की निरीहता और वन्दना की निश्छलता ने उसे अभिभूत कर रखा था। भारी गले से बोला—बहूजी, मैं नौकर आदमी हूँ। इस चिट्ठी को अपने हाथ से यहाँ लाकर देने में मेरे मन के भीतर क्या हो रहा है यह मैं कैसे बताऊँ?

न बताने पर भी समझा जा सकता है कि नौकरी जिसे कहते हैं वह पत्थर बने बिना नहीं की जा सकती। यह भी उतना ही सही है कि दया-धर्म मन में लेकर धर्मशाला बनवाई जा सकती है, मन्दिर बनवाया जा सकता है, दूसरे के घर में लगी आग बुझाने के लिए दौड़ा जा सकता है, भिखमंगे की झोली में एक पैसा फेंक कर आत्मतुष्टि की जा सकती है पर व्यवसाय नहीं हो सकता। दया-धर्म से परलोक बन सकता है, इहलोक में दूकान या प्रेस या मिल नहीं चल सकते।

वन्दना के मुँह से बोल ही नहीं फूटे। वह वैसी ही चूल्हे के सामने बैठी

रही। आँच का प्रकाश उसके मुख पर खेलता रहा, गोरा मुख इन्द्रायण फल-सा रक्तवर्ण होता रहा और चिट्ठी उसकी उंगलियों के बीच काँपती रही। सहसा ही उसकी आँखों से आंसू बह चले और आँचल भीगने लगा। वह बहुत देर तक इसी तरह बैठी रही, पत्र के अक्षर जहाँ-तहाँ आँसुओं से भीयकर धुल गए और फैल गए और वेदना का मूक इतिहास भाषा-लिपि-विहीन होकर मुखर हो उठा, स्पष्ट हो उठा। रामदीन यह देख नहीं सका, मैले कुर्ते के छोर से आँखें पोंछता हुआ बोला—बहूजी, देर हो रही है। मैं जाऊँ न?

वन्दना ने मुँह ऊपर नहीं उठाया, हाथ उसकी ओर बढ़ाकर कहा—भैया रामू, मैनेजर बाबू ऊपर हैं। तुम ही ले जाकर दो न! जब इतनी तकलीफ़ उठाकर वहाँ से यहाँ तक लाए हो तब थोड़ी तकलीफ़ और सही।

रामदीन लड़का होने पर भी, नौकर होने पर भी 'मनुष्य' था। अभी उसकी चेतना एकदम नहीं मर गई थी। उसने समझा कि कितनी बड़ी व्यथा से वन्दना अपना संतुलन खो रही थी और उसके सहज स्वाभाविक कंठ की वाणी अनर्गल हो रही थी। उसने वन्दना की वक्रोक्ति जैसे अपने ऊपर ली ही नहीं, कहा—जिसके पास कलम है वह चिट्ठी लिख सकता है, जिसके पास पाँव है वह चिट्ठी ला भी सकता है पर खुद ले जाकर देना भी क्या उतना ही सहज है बहूजी? यह तो कोई 'चिक' नहीं है जो दौड़-कर उनके हाथ में रख दूँ।

वन्दना ने वैसे ही पूछा—इसमें क्या लिखा है, यह तुम जानते हो रामदीन?

रामदीन ने गर्व से भरकर उत्तर दिया—बाप के मर जाने पर माँ अकेले कुटाई-पिसाई करके काम नहीं चला सकी। एक दिन मेरा हाथ पकड़े सड़क पर जा रही थी, कई दिनों से खाया नहीं था, लोगों की झिड़-कियाँ सुनते-सुनते मन से भी अधमरी हो रही थी। वहीं सड़क पर म्यूनि-

सिपैलिटी के बम्बे से पानी पीने के लिये झुकी और कमजोरी से गिर पड़ी। मैं तब तेरह-चौदह का था बहूजी, माँ की यह हालत देखकर मुझे रोना आ गया। मैनेजर बाबू उसी समय उधर से प्रेस जा रहे थे। सड़क पर और लोग खड़े हँस रहे थे लेकिन मैनेजर बाबू ने माँ को उठाया, पास की दूकान पर ले जाकर दूध पिलाया और मुझे अपने साथ प्रेस ले जाकर मालिक से कह-सुनकर दफ्तरीखाने में ग्यारह रुपये पर नौकर रखवाया। उसी दिन से, काम से वक्त निकालकर, मुझे थोड़ा-थोड़ा पढ़ाते रहे। अब मैं काफी पढ़ गया हूँ बहूजी, आदमी बन गया हूँ। मैंने यह चिट्ठी पढ़ी है, मंगलवार को मैनेजर बाबू को काम पर पहुँचने को लिखा है, नहीं तो नौकरी चली जायगी। बड़ा जालिम लाला है बहूजी। आपने ठीक कहा, उसका बस चले तो मसानघाट के मुर्दे से भी काम करावे।

फिर कुछ रुककर रुआँसा होकर बोला—मैनेजर बाबू कहते थे कि रामदीन, एक दिन तू इस प्रेस का मैनेजर बन जायगा। पर अब तो मैनेजर बाबू भी मैनेजर नहीं रहेंगे, तब मुझे कौन मैनेजर बनायेगा ? वह लाला ?

वन्दना ने यह सब कुछ नहीं सुना। रामदीन के मैनेजर बनने का दिवास्वप्न भंग हो जाने का परिणाम उसके लिए कितना कष्टकर है, यह अनुभव करने की स्थिति वन्दना की इस समय नहीं थी। उसके आँसुओं का बाँध फिर टूट गया पर यह आँसू वेदना के नहीं थे, दुख के नहीं थे, दीनता के नहीं थे। यह आँसू थे आनन्द के, सुखके, गर्व के। यह आँसू थे उल्लास के, सन्तोष के, अभिमान के। व्यथा-वेदना के तमसाच्छन्न वातावरण को भेद-कर पुलक का प्रकाश उसे एक ऐसा लोक दिखला गया जहाँ की ऊँचाई पर सब कुछ सुन्दर, सब कुछ पवित्र और सब कुछ मोहक हो उठा। स्वामी का स्वार्थ फिर भी वह नहीं देख सकी, शिवनाथ की उस श्रान्त-क्लान्त, अस्थि-चर्मावशिष्ठ देह पर वन्दना के मन में इस क्षण इतनी लुब्धता, इतनी लिप्सा जाग उठी कि वह सिहर गई। उन कुछ मुट्ठी भर हड्डियों के पिंजर में

कहाँ टिके हैं वह प्राण जो गोष्पद-सी लघुता में सागर सी विशालता छिपाए हैं? पथ की धूल को उठाकर 'आदमी' बनाने का आयोजन करने वाले देव के चरणों में उसके हृदय के समस्त श्रद्धा के फूल निर्माल्य से चढ़ने लगे।

तभी ऊपर से पुकार आयी—बिन्दो, आज ऊपर आने में बड़ी देर कर दी। कुछ बना कर ला रही हो क्या?

वन्दना को ध्यान आया, अभी पति के कमरे में दिया बत्ती भी नहीं हुई है। जब से नहाने के लिये वह नीचे उतरी तब से ऊपर गई ही नहीं अपने में ही मगन रही, शिवनाथ ने भी एक बार पुकार कर उसे सचेत नहीं किया। नीचे उतरते समय वह उनके कमरे की खिड़की खोल आई थी, शायद उसी से आते हुए बाहर के प्रकाश में वह चुपचाप बैठे होंगे। उसे अपने ऊपर बड़ी लज्जा आयी, वह इतनी अन्यमनस्क क्यों हो गई?

रामदीन को जैसे साँस मिली, कहा—बहूजी, मैनेजर बाबू बुला रहे हैं।

वन्दना—हाँ भैया, देखो तो, अभी उनके कमरे में सँझवाती भी नहीं हुई। मैं ऊपर चलती हूँ। कल दिन को तुम एक बार आ सकोगे?

रामदीन ने एक बार सिर खुजलाया जैसे यह तो बड़ा कठिन काम उसके सामने आ पड़ा। बोला—दिन को बहूजी? और वह जो बाघ लाला है, वह तो कच्चा चबा जायगा!

वन्दना—देखो, आ सको तो आना।

वह मूँग की दाल का जूस लेकर भागी हुई ऊपर गई और कटोरा तिपाई पर रखकर, चुपचाप लालटेन की चिमनी उतार कर पोंछने लगी। शिवनाथ ने कहा—अभी नीचे बात कौन कर रहा था बिन्दो? शायद रामदीन था।

वन्दना—हाँ।

यह छोटा-सा, संक्षिप्त-सा 'हाँ' कुछ इतना अटपटा होकर वन्दना के मुख से निकला कि उस अन्धकार में भी शिवनाथ ने बहुत कुछ समझ

लिया। थोड़ी देर तक वह कुछ नहीं कह सके। वन्दना ने चिमनी चढ़ाकर लालटेन जला दी और इधर-उधर करने लगी। वह चिट्ठी के प्रसंग को इस समय उठाना नहीं चाहती थी। आज शिवनाथ कुछ स्वस्थ हैं, कुछ प्रसन्न हैं, कुछ सचेत हैं। क्या वह स्वयं अपने हाथों से इस मंगल के मुख पर कालिमा पोत देगी ? क्या वह कुघड़ी टाली नहीं जा सकेगी जब उसे स्वयं स्वामी को यह बतलाना होगा कि इस जर्जर, दुर्बल और रोगी देह को लेकर यदि तुम काम पर नहीं जाते तो तुम्हारी तीस रुपये महीने की नौकरी छूट जायगी ? एक तुम्हारे न रहने से संसार का कोई अकल्याण न होगा। सागर की एक लहर टूट गई तो उसका स्थान दूसरी लहर ले लेगी पर लालाजी की तिजोरी ख़ाली रह गई, तो ? शिवनाथ या रामनाथ या श्यामनाथ को लेकर संसार का काम नहीं चल सकता। संसार चल रहा है लालाजी और सेठ जी और सावजी के बल पर। लाखों-करोड़ों वन्दनाओं का सुहाग और माओं का दूध और कुआँरियों के तन की लाज तिजोरी में बन्द है।

शिवनाथ—रामदीन क्या प्रेस का कोई काग़ज़ लाया था ?

पति के सामने इस समय कुछ मिथ्या कहने का साहस वन्दना को नहीं हुआ। झूठ बोलकर वह उन्हें उद्विग्न होने से इस क्षण बचा लेगी किन्तु दो दिन बाद जब यही कठोर सत्य अनायास सामने मुँह फाड़कर खड़ा होगा तब उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकेगी ? उसने ब्लाउज़ के भीतर से मुड़ातुड़ा काग़ज़ निकाल कर देते हुए कहा—हाँ, यही चिट्ठी दे गया है।

शिवनाथ ने पत्र पढ़ा और एक क्षीण, म्लान हँसी हँसकर अलग रख दिया। यह वह पहले ही सोच चुके थे। इस आशंका को जैसे उन्होंने पहले ही समझ लिया हो। वन्दना कातर होकर बोली—तुम हँस रहे हो ?

शिवनाथ—हाँ बिन्दो।

वन्दना—तुम बीमार पड़ गए तो यह भी तुम्हारा ही दोष है ? क्या

तुम्हारे बड़े बाबू इतना भी नहीं समझते?

शिवनाथ—क्या नहीं समझते?

वन्दना—नहीं समझते मेरा सिर। मैं कहती हूँ, कोई बीमार नहीं पड़ता क्या? किसी की देह में दम न हो तो काम पर कैसे जाय? इसमें उसका क्या दोष है?

शिवनाथ ने वैसे ही हँसकर कहा—पागल, मेरे बीमार पड़ने में मेरा दोष न सही पर बड़े बाबू का भी तो उसमें कोई दोष नहीं है।

वन्दना ग़ुस्से में भर मुँह बिगाड़ कर बोली—हँसी तो बहुत आ रही है पर नौकरी छूट गई तो क्या होगा? यह भी सोचा है?

शिवनाथ—मरूँगा मैं और साथ ही तुम भी।

शिवनाथ के पिता पंडित दीनानाथ अच्छे खाते-कमाते गृहस्थ थे। जब तक जीवित रहे, मान सुरक्षित रखकर निर्वाह किया। दैन्य उनके जीवन में बहुत था, दीनता और अभाव ने उन्हें कभी मुक्ति नहीं दी, जीवन जूझते ही बीता किन्तु वह भाग्य से हार कभी न मान सके। भाग्यवादी वह थे किन्तु हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने को वह दुर्भाग्य का हाथ प्रबल करना मानते थे। उनके पिता उन्हें अच्छी शिक्षा नहीं दे सके, इस कमी को उन्होंने स्वाध्याय से पूरी किया। अपने समय के वह जाने-माने विद्वान थे किन्तु स्वाभिमान ने अर्थ की दिशा उन्मुक्त न रहने दी। उनकी मृत्यु के समय शिवनाथ के बड़े दो भाई पुरोहिताई करके जीवन-निर्वाह कर रहे थे और शिवनाथ कन्धे पर किताबों का गट्ठर लाद कर इस घर से उस घर बेचते फिरते थे। दोनों बड़े भाई तो विवाहित थे, उनके भी अपने बच्चे थे पर शिवनाथ बड़ी वय हो जाने पर भी विवाह का सुयोग नहीं जुटा सके। वह एक प्रकार से जीवन से ही विरक्त हो चुके थे। एक निस्संग तटस्थता, एक दुर्भेद्य उदासीनता उनके जीवन में व्याप गई थी। पिता की मृत्यु के बाद यह आन्तर्मुखता और भी बढ़ गई। एक ऐसी अकर्मण्य अन्यमनस्कता उनके

व्यवहारों में परिलक्षित होने लगी कि उनके भाई एक दम चिन्तित हो उठे। भौजाइयों की नींद उचटने लगी और रात-रात जागकर इस समस्या का समाधान खोजा जाने लगा कि सब काम धाम छोड़-छाड़ कर दिन भर घर में घुसे रहने वाले शिवनाथ को सन्मार्ग पर कैसे लाया जाय। सबसे बड़े भाई की पत्नी भगवन्ती देवी ने एक दिन आधी रात को स्वामी को यह गहन मर्म समझाया कि केवल कथा-पुरान बाँचने से काम नहीं चलेगा, देवर का व्याह किये बिना उसका काम-धाम में मन नहीं लगेगा और हम लोग बैठाकर अधिक दिनों खिला नहीं सकते। कल सुबह उन्हें सब काम छोड़कर उस मुहल्ले के पंडित नीलकण्ठ तिवारी के यहाँ जाना होगा और उनकी सबसे छोटी लड़की बिन्दो से व्याह की बात चलानी होगी।

भगवन्ती देवी के पति महोदय जैसे जाड़े की इस आधी रात में दो घड़े ठण्डे पानी से नहा गए हों, काँपते हुए बोले—कहती क्या हो रूपन की अम्मा? बिन्दोइया का व्याह अपने शिवनाथ से?

भगवन्ती—हाँ हाँ, तुमने तो देखा है बिन्दो को। घर गिरस्ती के काम में वह हुसियार है, उमिर भी कम है, सुन्दर भी है। जोड़ा ठीक रहेगा। तुम कल सुबह जाओ तो। अच्छी तरह सब समझा-बुझाकर कहना तो तिवारी जी मान जायेंगे।

पति—पर अपने शिवनथवा की उमिर भी तो देखो रूपन की अम्मा! वह तेरह की तो यह तैंतीस का। ऐसे में भला......

भगवन्ती देवी झनक कर बोलीं—तो तुम ही कौन गबरू जवान रहे जौन बाबू ने मेरा बियाव किया? आखिर बियाव हुआ या नहीं? बाल-बच्चे भए या नहीं?

पतिदेव के पास इस अकाट्य तर्क का क्या उत्तर था? सिर खुजलाते हुए कहना पड़ा—हाँ, सो तो भये ही।

भगवन्ती—तब फिर? मर्द-मानुस की कहीं उमिर देखी जाती है?

यहीं बड़ा कथा-पुरान बाँचते हो?

सच ही, भगवन्ती देवी के पतिदेव की किसी कथा-पुरान की पोथी में यह मीमांसा नहीं हुई थी। शुद्ध-अशुद्ध बहुत से मंत्र पढ़कर उन्होंने स्वयं सैकड़ों विवाह कराए थे पर यह समस्या उनके सामने कभी नहीं आयी। और एक बार दक्षिणा के लोभ में विवाह के मंत्र बोल कर घर आने के बाद कभी इसकी भी आवश्यकता नहीं हुई कि उस विवाह के परिणाम को भी देखा जाय। वह विवाह सफल हुआ या असफल, दम्पति के सुहाग की सेज फूलों की रही या शरशैया में परिणत हो गई, पति-पत्नी के दृगों में एक दूसरे के लिये प्रेम झलका या घृणा या उन कोटरलीन दृगों से पल-पल अन्तस का जल ही पिघल कर झलकता रहा, यह देखना उनका काम नहीं था। यदि वह विवाह एकदम ही बच्चों का खिलवाड़ बनकर रह गया, कहीं किसी छिद्र से उसमें रस नहीं सरसा और एक अनिवार्य गलग्रह की भाँति दो जीवन एक दूसरे को लेकर नष्ट और ध्वस्त होते रहे तो इस सर्वनाश के मूल में उनका भी कुछ उत्तरदायित्व है, यह उनकी समझ के परे था।

दूसरे दिन सुबह दस बजे के लगभग जब भगवन्ती देवी के पतिदेव बाहर से लौटे तब अत्यन्त प्रसन्न थे। मैदान मार लिया था। आते ही बोले—रूपन की अम्मा, लो, काम बन गया।

भगवन्ती—मैं तो पहले ही जानती थी। तो कब की सायत रही?

इसी समय शिवनाथ किताब बेचने बाहर जाने के लिए निकले। बड़े भाई ने पुकार कर कहा—अरे शिवनाथ, जरा इधर तो आओ। क्या उमिर है तुम्हारी?

शिवनाथ पास आये—मेरी उम्र? यही तैंतीस-चौंतीस होगी। क्यों?

पतिदेव ने इस 'क्यों' का उत्तर न देकर पत्नी से प्रसन्न होकर कहा—

यह लो रूपन की अम्मा, मैं तिवारी जी से इसकी उमिर चौबीस-पचीस बता आया। खैर, इससे क्या होता है? लगता भी तो ज्यादे का नहीं, इसकी काठी ही ऐसी है। मरभुखहा ऐसा।

शिवनाथ कुछ समझ नहीं सके, पूछा—किसको उम्र बता आए भैया?

"पंडित नीलकण्ठ तिवारी को।"

"उनकी मेरी उम्र से क्या लेना-देना है?"

"सुनती हो जी इसकी बातें? अरे, उनकी लड़की से व्याह की बात हुई है न तेरे! अगले पखवारे में तो है।"

शिवनाथ जैसे आकाश से गिरे—किसका व्याह भैया? मेरा?

भैया हो-हो कर हँस पड़े—तेरा नहीं तो क्या मेरा? तूने तो देखा है उस लड़की को। कैसी गोरी-चिट्टी है!

शिवनाथ झुंझलाकर बोले—गोरी-चिट्टी तो है पर वह कुछ खाएगी या हवा पीकर रहेगी?

वन्दना, इसलिये, शिवनाथ के लिये ठीक पत्नी रूप में कभी नहीं रही। वह पत्नी से अधिक पालतू मैना थी जिसे पिंजरे में बन्द कर चुकने के बाद उसका स्वामी अपने कर्तव्य से मुक्त नहीं हो जाता। शिवनाथ के जीवन के जिस सर्वग्रासी अभाव को वन्दना ने भर दिया था उसका मूल्य चुकाने के लिये उस कंगाल के पास क्या था? पिता की वय के एक व्यक्ति को पति के रूप में पाकर वन्दना एक बार तो सिहर उठी, बहुत साध से संजोए सपने सिर धुनकर हाहाकार कर उठे, एक चरम व्यर्थता उसे खाने चुकाने लगी। उसे लगा कि अब वह जैसे अपनी बहनों और सहेलियों के सामने सिर नहीं उठा सकेगी, कि अब वह जैसे सुहाग के रंग में माती पड़ोसिनों की पांत से अलग कर दी गई है, कि अब जैसे उसके गर्व और अभिमान के लिये इस धरा पर कोई वस्तु नहीं बची। शिवनाथ वन्दना के मन का यह भाव देखते थे

और चुप रहते थे। दोषी वह स्वयं थे। किताबों में पढ़े हुए ज्ञान में अपने को भुलाते रहते।

समय आगे बढ़ता गया। निरन्तर के साहचर्य ने वन्दना को पति को समझने-बूझने का अवसर दिया। उनकी निरीहता के प्रति उसके मन में करुणा उपजी, भाइयों और भावजों के द्वारा उनकी उपेक्षा ने उसे उन्हें अपने आँचल की ओट कर लेने पर बाध्य किया। इन सब बातों को बीते अब कितने ही वर्ष हो गए हैं किन्तु वन्दना के आंचल की वह छाया फैलती ही गई, फैलती ही गई।

नौकरी छूट जायगी तो स्वामी मरेंगे और साथ ही वह भी, यह तो एक कठोर सत्य था। पर स्वामी के कहने के ढंग में जो परिहास था उसे विषण्ण मन से झेलकर इस समय वन्दना वहाँ से हट गई। बड़ी कठिनाई से मुँह में आँचल भरकर उसने अपनी रुलाई रोकी। मरना तो बहुत सहज है। तुम तो एक बार मर कर छुट्टी पा जाओगे पर वन्दना जीवित रहकर भी तिल-तिलकर, जीवन के पल-पल जो मृत्यु को वरण करती रहेगी उसका क्या होगा ?

वन्दना के जाने के बाद शिवनाथ ने सोचा, वह कड़ी बात कह गये है। वन्दना जब लौट कर आई और चुपचाप पाँव दबाने लगी तब शिवनाथ ने लक्ष्य किया कि उसके विबुधाकर मुख पर मेघ घिर आए हैं। धीरज बँधाने के लिये बोले—क्या बात है बिन्दो ?

वन्दना चुप रही।

शिवनाथ ने फिर कहा—बोलो न ?

स्वामी के असामर्थ्य को महानता समझने वाली वन्दना फफक कर रो पड़ी—तुम क्या कभी किसी पर क्रोध नहीं कर सकते ? तुम क्या जानोगे, तुम्हे लेकर मुझे कितनी जलन है, तुम्हें लेकर कितने आँसू मेरी इन आँखों से बह गए हैं। कितने उपास करके तुम्हारे लिए पथ्य जुटाए

है ,कितने देवी-देवताओं की मनौतियाँ मानी हैं, रात-रात आँखों में जागकर सबेरा किया है। आज जब तुम्हें उठाकर खड़ा कर पाई हूँ तब मुझे यों छेद रहे हो?

इन सब असंबद्ध और अनर्गल बातों का उत्तर शिवनाथ के पास कहाँ था? कोई प्रश्न वन्दना के स्वर में इस समय था भी नहीं, था तो केवल स्वयं सब प्रश्नों का एक तरल उत्तर। वह चुप ही रहे। भूली-बिसरी स्मृति के पृष्ठ पलटने लगे कि ऐसे अवसरों के लिए किताबें क्या कहती हैं!

वन्दना—तुम्हारे बड़े बाबू ने कभी यह भी सोचा कि तुम्हारे घर में एक जून खाने को है या नहीं? उन्होंने कभी यह देखा कि तुम्हारी स्त्री के शरीर पर साबुत धोती है या नहीं? बस, तुम बीमार पड़ गये तो जैसे प्रलय आ गया।

शिवनाथ ने समझाने के स्वर में कहा—प्रेस में सप्लाई की किताबें लगी हुई हैं। तुम जानती हो, सब देखना भालना मेरे ऊपर था। काम का जब बोझ हो तब आदमी को बीमार पड़ने की सुविधा कैसे दी जा सकती है?

वन्दना—और कल अगर लालाजी बीमार पड़ जायं, तो? क्या सब काम बन्द हो जायगा?

शिवनाथ—कोई काम बन्द नहीं होगा बिन्दो। हम लोग इसीलिये तो हैं कि काम बन्द न हो।

फिर हंसकर कहा—लेकिन लालाजी से मेरी तुलना करने से कैसे चलेगा?

वन्दना—क्यों? वह आदमी नहीं हैं? उनके क्या कोई पंख लगा है?

कैसे समझाएँ शिवनाथ कि सच ही लालाजी को पंख लगे हैं। पूंजी

के पंख जिस पर चढ़कर वह या उनके जैसे अन्य लोग बादलों पर उड़े-उड़े फिरते हैं और उनकी आँखों में संसार एक भारी खेल है, और कुछ नहीं। जिनकी आँखों में केवल रस है, उल्लास है, राग है, आँसू से जिनका परिचय कभी हुआ नहीं। जिन्होंने केवल जीवन में संगीत के स्वर सुने, बिलखने के स्वर जिनके कानों तक नहीं पहुँचे। जो जानते हैं केवल हँसी, रुदन जिनके लिय अपरिचित है। अपना-अपना भाग्य है। ताज-महल का वैभव सब देखते हैं किन्तु उसके चिरधवल यश:शरीर के मूल में जिन निर्माताओं के हड्डियों का और रक्त का संयोग हुआ है उन्हें आज कौन स्मरण करता है? इतिहास में अमर है शाहजहां, जिसके पास शक्ति थी, सामर्थ्य थी, पूंजी थी। वह मज़दूर अमर नहीं है जिनके श्रम ने यह सुधिसौध खड़ा किया। जिन हाथों के स्पर्श से मिट्टी सोना उगलने लगती है वह हाथ अपना काम करके अलग हट जाते हैं। लोग कहते हैं, 'अमुक' का खेत सोना उपजाता है। लालाजी भी आदमी हैं, शिवनाथ भी आदमी है। वन्दना भी आदमी है, नैना भी आदमी है। आदमी सब हैं किन्तु तुम कैसे समझोगी बिन्दो कि पैसा क्या है? कि पैसा 'आदमी' से बड़ा है।

उस दिन बड़ी रात तक वन्दना जागती रही। दूसरे दिन सुबह सोकर उठते ही उसने देखा, शिवनाथ कुर्ता पहन रहे हैं। दुर्बलता के कारण ठीक से खड़े होने में उन्हें कष्ट हो रहा है पर मुख पर एक दु:साहस की झलक है। वन्दना ने पूछा—यह क्या? कहाँ जा रहे हो?

शिवनाथ ने फीकी हँसी हँस कर कहा—मंगलवार को काम पर पहुँचने को लिखा था न? आज मंगलवार ही तो है!

वन्दना चीख उठी—तुम क्या मेरा प्राण लेकर ही रहोगे? मैंने क्या तुमसे कहा है काम पर जाने के लिए?

शिवनाथ ने नीचे उतरते हुए निरुपाय कहा—तुमने नहीं कहा

बिन्दो, शायद मुँह खोलकर ऐसी बात तुम कह भी नहीं सकतीं। पर क्या सब बातें मुँह खोलकर कही जाती हैं?

वन्दना ने प्रायः पागल-सी सीढ़ी के ऊपरी छोर पर पहुँच कर चिल्ला कर बात काटी—देखो, मुझसे छल मत करो। मुझे धोखा मत दो, झूठ मत बोलो। तुमने कैसे समझा कि मैं तुम्हें काम पर भेजना चाहती हूँ? यह कलंक मुझे ही लगाना था?

शिवनाथ नीचे क्षण भर ठिठके फिर बात बनाते-बनाते सत्य कह गए—झूठ का आवरण डालकर तो तुम्हें व्याह कर लाया था बिन्दो! याद है, छल तो तुमसे उसी समय किया था जब तुम्हारे पिता जी के सामने अपनी उम्र में से दस वर्ष काट कर खड़ा हुआ था। खैर, उसे जाने दो। काम पर भेजने के लिए तुमने नहीं कहा पर उस चिट्ठी के अक्षरों पर पड़ी हुई आँसुओं की बूंदों ने उससे बड़ी बात कल रात मेरे कानों में चुपके से कह दी थी। कलंक तुम्हे न होगा, मुझे लगेगा यदि उस अनकही बात की उपेक्षा करूँगा।

और बाहर निकल गये, काँपते-काँपते।

चार

रामदीन ने दूर से घर दिखा दिया।

"तुम न चलोगे रामू ?"

रामदीन ने दोनों कान पकड़ कर अस्वीकार में सिर हिलाया जैसे अब तक जो वह साथ-साथ आया है वही बहुत बड़ा अपराध उसने किया है।

वन्दना—तो मैं अकेली कैसे जाऊँ, बताओ भला? मैं तो उन्हें पहचानती भी नहीं। तुम रहोगे तो उन्हें बता तो दोगे कि मैं कौन हूँ।

रामदीन ने भयभीत होकर कहा—बहूजी, बड़ी जन्नैल औरत है वह! मुझे यहाँ देखकर आग हो जायगी। मालिक को काम की जितनी फिकर नहीं रहती उतनी उसे रहती है। फिर डर काहे का है? आप जाइए, दरबान बड़ा सीधा है। उससे कह दीजिएगा कि मालकिन से मिलना है, वह रोकेगा नहीं। अन्दर जाने पर उन्हें पहचानने में कसर नहीं रहेगी, हाँ। तब तक मैं यहाँ खड़ा रहूँगा। उसके काटे का इलाज नहीं बहूजी!

वन्दना यद्यपि आश्वस्त नहीं हुई किन्तु बहुत निहोरा करने पर भी

रामू नैना देवी के सामने जाने के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ। वह तो तभी भय से अधमरा हो गया था जब वन्दना ने उससे नैना के पास जाने का प्रस्ताव रखा था। आश्चर्य से आँखें फाड़कर पूछा था—आप जायँगी बहूजी उसके पास?

वन्दना—हाँ भैया, जाऊँगी। जाकर अपना दुखड़ा रोऊँगी। वह भी तो औरत हैं न! मेरी माँग के सेंधुर पर क्या उन्हें दया नहीं आएगी?

रामदीन ने मुँह बिचका कर कहा था—औरत हैं? औरत तो पूतना भी थी बहूजी। औरत तो सुपनखा भी थी। तो क्या आप सबके पास जायँगी? औरत की देह होने से ही क्या औरत हो जाती है?

बात रामदीन की सच थी। स्त्री का शरीर होने से ही स्त्री नारी नहीं हो जाती। इस तर्क का वन्दना के पास कोई उत्तर नहीं था किन्तु पति द्वारा लगाए गये अप्रत्यक्ष लांछन ने उसे इस समय तर्क-वितर्क, उचित-अनचित की सीमा के बाहर फेंक दिया था। यह लांछन नहीं तो और क्या है? अब वह इतनी स्वार्थान्धि, इतनी पतित हो गई कि काल के मुंह में पड़े पतिदेव को भी, अपने पेट के लिए, अपनी भूख-प्यास के लिए, रोग-जर्जर शरीर लेकर काम पर जाने के लिये बाध्य करेगी? स्वप्न में भी क्या वह पतन के इतने नीचे स्तर पर उतर सकती है? स्वामी के लिए उसकी एकान्त मंगलेच्छा क्या अन्त में इस कलंक का भार ढोयेगी? ना, ना, यह नहीं होगा। यह अपवाद, यह मिथ्या, यह आक्षेप वह प्राण रहते नहीं सह सकेगी।.... किन्तु उसके ही लिए तो स्वामी को यह असाध्य साधन करना पड़ा! उसके ही मुंह में दो कौर अन्न डाल पाने के लिए, उसके ही तन की लाज बचाये रखने के लिए तो उन्हें अन्याय का प्रतिकार करने की अपेक्षा उसके सामने माथा झुकाना पड़ा। अरे अभागिन, तेरे ही लिए तो पति को रोग-शैय्या छोड़कर काम पर जाना पड़ा। तू अपने इस उत्तरदायित्व से मुक्ति पा ही कैसे सकती है?

एक ही उपाय है। कुछ ऐसा हो, कुछ ऐसा कि जिससे पति को सर्वथा निरोग होने तक किसी प्रकार काम का बोझ न ढोना पड़े और वह कुछ हो उसके अपने कारण जिससे वह अपने मुँह पर लगी कालिख पोंछ सके।

बहुत देर तक वह सोचती रही, सोचती रही और पति की व्यथा-रोग जर्जरित देह उसके मानस-नेत्रों के सामने डोलती रही। रोते-रोते उसकी आँखें रीती हो गईं। अब उनमें आँसू भी न रहे। वह वहीं लोट गई और फटे नेत्रों से सूने आकाश में अपना खोया बचपन पाने का प्रयास करने लगी। कैसे थे उसके वह दिन जब सिन्दूर के बंधन ने उसे नहीं बाँधा था! कैसी थीं उसकी वह रातें जब सुहाग का शव उसके कन्धों पर नहीं धरा था! जब वह हँसती थी तो फूल झरते थे, रोती थी तो मोती। जब उसकी मुसकान सोना बिखेरती थी। जब उसके तन और मन का निर्माल्य कहीं निवेदित नहीं था, जब वह तितली-सी उड़ी-उड़ी फिरती थी। आज उस तितली के पंख टूट गये हैं। वह समर्पिता है, निवेदिता। आज उसमें प्रतिकार की क्षमता नहीं रह गई है। आज तो उसे सब कुछ स्वीकार करना होगा, जीवन की सब तिक्तता, सब कटुता, सब व्यर्थता धीर धरित्री की भाँति अविचल रह कर अंगीकार करना होगा। उसके माथे पर सिन्दूर है और वह केवल शृंगार के लिए नहीं है। भाल की वह लाल बिन्दी कटु भी है, मधु भी। उसमें अमिय-हलाहल दोनों बसते हैं। पति का सुहाग उसने झेला है तो उनका विराग कौन सहेगा? प्रशंसा उसने पाई है तो व्यंग्य-विद्रूप भी तो वही संजोयेगी! रामदीन को वहीं छोड़कर वन्दना डगमग-पग हवेली के अन्दर चली जैसे साक्षात् काल के मुंह में जा रही हो। जैसा और जो कुछ नैना का विवरण उसने रामदीन से पाया था और कभी-कभी पति से सुना था वह ऐसा नहीं था कि आशा बंधे। किन्तु और कोई उपाय भी तो नहीं था। अनन्त,

अछोर, अकूल अन्धकार-सागर में दूर पर टिम-टिम प्रकाश-सी नैना ही थी। उस प्रकाश के संबल से उसकी ध्वस्तप्राय नौका किनारे लगेगी, यह दुराशा वह मन में पाल नहीं पाती थी किन्तु डूबते को एक तिनके का सहारा था।

भीत दृष्टि से वन्दना ने दरबान को देखा। दोपहर की निद्रा के बाद अभी-अभी उठकर वह द्वार पर बैठे-बैठे अपनी प्रिया से, नैना की दासी बिंदिया से, कुछ आवश्यक परामर्श कर रहे थे। बाधा पाकर उन्होंने बिंदिया की ओर मुंह बिचका कर कुछ संकेत किया। बिंदिया ने अधिकार भरे स्वर में पूछा—केसे मिलै चाहत हौ? कहाँ जइहौ?

वन्दना का रहा-सहा साहस भी जाता रहा और वह ठगी-सी खड़ी रह गई।

बिंदिया—अरे बोलत्यू काहे नहीं? कहाँ जइहौ?

वन्दना से बहुत बड़ा अपराध अनजान में हो गया था। बिंदिया के प्रेमालाप में उसने बाधा पहुँचाई थी। तीखे प्रश्न के उत्तर में उससे कुछ कहते न बना, केवल संकेत से बता दिया कि वह अन्दर जाना चाहती है।

बिंदिया—मालकिन तो अबहीं सोवत हैं, जइहौ केकरे पास? का चहती हौ?

दरबान ने मर्म की बात समझाई—अरे, नौकरी चहती होइ हैं, और का?

लज्जा और ग्लानि से बन्दना का मुख काला पड़ गया। आज ऐसे लोग भी उसके मुंह पर उसका अपमान करने की क्षमता रखते हैं और उसे चुपचाप निर्विकार रह कर यह सहना होगा। वह आज याचिका है, दया की भीख माँगने निकली है और मान-अपमान भिखारिणी का नहीं होता। लज्जा त्याग कर जब वह एक बार हाथ पसारे, भीख की झोली लिए, बाहर आ खड़ी हुई है तब अभिमान लेकर वह क्या करेगी? उसका

'अहं' तो कब का मर चुका। उसने चुपचाप रोगी स्वामी का स्मरण कर आंचल से उमड़ते आँसुओं को रोका और कहा—अच्छा। जाती हूँ।

दरबान को वन्दना के आँसू देखकर दया आ गई, बोला—अरे बिंदिया, मिला दे न मालकिन से। बेचारी गरीब दुखिया है। का जाने, मालकिन रख ही लें।

बिंदिया ने एक बार ऊपर से नीचे तक वन्दना को देखा फिर दरबान की ओर देखकर मुसकिराई और एक संकेत किया। वन्दना लाज से मर गई। अब उसके लिए एक क्षण वहाँ खड़ी रहना कठिन हो गया, जल्दी-जल्दी पांव बढ़ाती हुई वह बाग़ के फाटक की ओर चली। सब जैसे राक्षस हैं, सब पिशाच हैं। उसकी असहाय अवस्था पर आज सब हंस रहे हैं। उसे लगा जैसे जल-थल, अवनी-अम्बर सब अट्टहास कर रहे हैं। उसके लिये भाग कर छिपने का कोई ठौर नहीं। उसने दोनों हाथों से कान बन्द कर लिए जिससे यह अट्टहास उसे सुन न पड़े। यह सब क्या है? यह क्या हो रहा है भगवान्? क्या नारी इतनी असहाय है, इतनी तुच्छ है, इतनी......

सहसा जैसे किसी ने पास ही बाँसुरी पर मारवा छेड़ दिया हो, स्वर आए—लहजू, यह बिंदिया कहाँ मर गई? अच्छा, रानी जी यहाँ खड़ी हैं! मैं तो जानती ही थी। यहाँ रासलीला हो रही है और वहाँ मैं चिल्लाते-चिल्लाते मर गई। लहजू, वह कौन औरत जा रही है?

लहजू व्यस्त हुआ और तुरन्त उठकर बोला—वह? वह माल-किन......ए औरत, मालकिन बुला रही हैं।

वन्दना रुक गई और इधर घूमकर देखा। शायद उसकी आशा में अब मीठे फल लगें। धीर पगों से लौट आकर खड़ी हो गई। बिंदिया को मालकिन को प्रसन्न करने का अवसर मिला, कहा—मालकिन, ई साइत नौकरी चहति हैं। हमतो कहा कि नौकरी नाहीं है।

"जिसे देखो वह यहीं मरने चला आता है। अरे भाई, हमने यहाँ कोई सदाव्रत खोल रखा है? चल बिंदिया, लालाजी उठ गए हैं। वह फ़ालसे वाली नई बोतल खोल ले और शरबत बनाकर ले आ। जाओ भाई, यहाँ कोई नौकरी नहीं है।"—युवती जाने के लिये मुड़ी।

अपमान का प्याला भर चुका था। वन्दना ने आहत अभिमान से काँपते हुए स्वरमें कहा—लेकिन मुझे नौकरी नहीं चाहिये।

युवती ने घूमकर वन्दना की ओर देखा और कुछ क्षण देखती रह गई। स्वर में कुछ ऐसी दृढ़ता थी, कुछ ऐसी संभ्रम-मिश्रित गरिमा कि ठीक उपयाचिका की भाँति उसे ग्रहण करना असंभव था। कंठ को अपेक्षाकृत मधुर बनाकर युवती ने पूछा—तो तुम, आप क्या चाहती हैं?

वन्दना—मैं तो मालकिन से मिलने आई थी।

युवती—मुझसे मिलने? मुझसे तो कभी कोई मिलने नहीं आता!

अनजान में ही युवती के मुख से निकल गए इस वाक्यांश पर वन्दना को करुणा उपजी, कहा उसने—यह मैं जानती हूँ, पर मुझे आपसे ही काम है।

लहजू चकित था, बिंदिया चकित थी और सबसे अधिक चकित थी वह युवती स्वयं। उसने एक बार फिर वन्दना को भरपूर देखा, कहीं वह स्वप्न तो नहीं देख रही है। वन्दना उसे किसी सम्भ्रान्त कुल की महिला लग रही थी। ऐसी स्त्री को उससे क्या काम हो सकता था? बिंदिया की ओर देखकर उसने कहा—बेंदी, इनको मेरे कमरे में ले चल। मैं आती हूँ। वहाँ भी शरबत ले आना दो ग्लास। भला!

वन्दना उस बड़ी-सी तिमंज़िली हवेली में बिंदिया के साथ प्रविष्ट हुई। युवती के कमरे में पहुँचकर उसने देखा, वैसी ही बड़ी खिड़की है जिसमें खड़ी होकर टूटते तारों को आंचल में समेटने की उसकी साध आज अतीत के कुहासे में खो गई है। मनुष्य के विलास के जितने साधन

और उपादान मनुष्य सोच सकता है, छोटे परिमाण में वहाँ सब उपस्थित थे। बिंदिया वन्दना को वहाँ पहुँचाकर चली गई।

अभी वन्दना अपने को उस कमरे की सजावट से अभ्यस्त ही कर रही थी कि युवती पर्दा हटाकर अन्दर आई और दीवान पर बैठते हुए बोली—देखो भाई, पहेलियाँ बुझाना मुझे नहीं आता। तुम कौन हो? मुझसे तुम्हारा क्या काम है।

वन्दना—आपका ही नाम नैना देवी है?

इस बार युवती खिल-खिल हंस दी जैसे अनार के दाने झर पड़े हों। कहा हाँ,—भाई हाँ। देवी हूँ या नहीं यह तो नहीं जानती पर नैना ज़रूर हूँ। कहो न जो कहना हो। तुम्हें तो जैसे विश्वास ही नहीं होना चाहता कि मैं नैना हो सकती हूँ।

वन्दना ने लक्ष्य किया, हाँ, रूप है और वह नितान्त उपेक्षणीय भी नहीं है। ऐसा नहीं है जिसकी ओर से पुरुष आँख मूंद कर चला जाय। अंग-अंग अनंग के सांचे में ढला हुआ, श्यामल वर्ण और सुरुचिपूर्ण विन्यास और प्रसाधन। लोचनों में मादकता और अधरों पर बिम्बाफल की लालिमा। कुछ ऐसा भी सौन्दर्य होता है जो दुर्निवार है, जो अजेय है। यह रूप और यह देहयष्टि की सम्पदा किसी को अपने में बाँध ले तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता। वह स्तब्ध रहकर रूप की वह प्रतिमा निहारती रह गई। वय? हाँ, वय भी मादक है। जैसे रतिपति, कुसुमायुध ने अपने समस्त शस्त्रास्त्र लालाजी को विजित करने के लिये संधाने हों। और इस विलास और वैभव के वातावरण में नैना कैसी राजरानी-सी सोहती है!

राजरानी बनने की तो उसकी भी साध थी न! वन्दना ने अपने को अपनी धोती से सावधानी से आवृत कर लिया। उसका अपना भूले-बिसरे सपने-सा रूप कहीं नैना की दृष्टि में उपहास का साधन न बने।

युवती—बैठती क्यों नहीं हो? खड़ी-खड़ी मुझे देख क्या रही हो? जो कुछ कहना हो कह डालो। मुझे और भी तो काम हैं!

वन्दना कुछ बोली नहीं। शासन के इस स्वर पर वह दो पग आगे बढ़ी और प्रेस से आई हुई चिट्ठी नैना की ओर बढ़ा दी। नैना जब पढ़ने लगी तब वह पास की रखी कुर्सी पर धीरे से बैठ गई। नैना के मुख की रेखाओं से उसका मनोभाव जानने में वह असफल रही। पढ़ चुकने पर नैना ने चिट्ठी वापस करते हुए पूछा—तो तुम शिवनाथ बाबू की स्त्री हो?

वन्दना ने स्वीकार में सिर झुका लिया।

नैना—फिर मेरे पास क्यों आई हो? मैं इसमें क्या कर सकती हूँ? यह सब काम-धाम की बातें हैं, लालाजी जानें। ना भाई, मैं इन सब में नहीं पड़ती।

एक क्षण में ही, एक वाक्य में ही उसने वन्दना की आशा को हवा में उड़ा दिया और उठकर सिंगारदान के सामने खड़ी हो गई। माथे पर से आंचल खिसक गया था, उसे ठीक करती हुई बोली—दफ़्तर के झगड़े मैं घर में नहीं पालती। तुम लालाजी से मिल कर कहो।

बिंदिया ट्रे में रखकर दो ग्लास फ़ालसे का शरबत लाई। नैना एक ग्लास लेकर फिर दीवान पर बैठ गई और वन्दना से कहा—तुम भी लो। गर्मी बहुत है।

बिंदिया चली गई। वन्दना ने ग्लास लेकर मुँह से लगाया, फिर सहसा ही उसे कुछ ध्यान आया। ग्लास ज्यों का त्यों पास की तिपाई पर धर दिया। नैना ने देखकर पूछा—यह क्या? पीतीं क्यों नहीं?

वन्दना ने आंचल मुंह पर लगाकर रुलाई रोकते हुये कहा—'उनके' मुँह में एक बूंद पानी भी नहीं गया है, ऐसे ही चले गए हैं।

और फफक कर रो दी।

नैना के लिए यह सब एक नया अनुभव था। सुहागिनों के आँसू उसके लिए अपरिचित थे। उसका ग्लास भी अनपिया रह गया, पूछा—'उनके' कौन? शिवनाथ बाबू? कहाँ चले गए हैं?

वन्दना—आज मंगलवार है न, सो काम पर गए हैं। देह में दम नहीं है, खड़े होते हैं तो आँखों के आगे अंधेरा छा जाता है, डेढ़ महीने की बीमारी ने अधमरा कर दिया है, उठ-बैठ नहीं सकते। कल ही थोड़ा मूंग की दाल का जूस दिया है। आज काम पर न जाते तो नौकरी छूट जाती।

वन्दना के पवित्र आँसुओं ने नैना का मन जाने कैसा कर दिया। उसका रूपगत अभिमान, उसकी कठोरता, संसार द्वारा मिली सतत उपेक्षागत उदासीनता, सब धीरे-धीरे गलने लगे और वह जैसे एक ऐसे लोक में गहरी और अशेष निद्रा के बाद आँखें खोलने लगी जहाँ का सब कुछ उसके लिये अनजान था फिर भी मधुर था, अपरिचित था फिर भी स्वर्गिक सुषमा से ओतप्रोत था। जहाँ बंधन में भी स्वतन्त्रता थी, पर-वशता में भी गौरव था, दीनता में भी वैभव विहंसता था। सामने बैठी नारी वन्दना उसे ऐसे लोक की निवासिनी लग रही थी जिस लोक की उसने केवल किसी सुदूर अतीत में कल्पना की थी, जहाँ तक पहुँचने का साधन उसके पास नहीं था। वन्दना की दयनीयता में उसे आत्मगौरव की झलक दिखाई दी, उसके रुदन में एक सन्तुष्टि। नारी का यह परिचय पाकर वह उसे पूरी तरह आत्मसात् करने की चेष्टा करने लगी।

वन्दना ने आगे कहा—आप कुछ और न समझें। पी सकती तो मैं आपके इस अनुग्रह को अस्वीकार कभी न करती पर मुझसे होगा नहीं। जब तक वह सांझ को आ नहीं जाते और मैं उन्हें देख नहीं लेती तब तक मैं कुछ खा-पी नहीं सकूँगी।

नैना को सांस मिली, बोली—लेकिन वह तो महीने भर से बीमार

हैं। इतने दिनों तक क्या आपने कुछ नहीं खाया-पिया? यह कैसे हो सकता है?

वन्दना विचलित नहीं हुई, वैसे ही उत्तर दिया—मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि स्वामी के लिये इतने दिन उपासी रह सकूँ? रह सकती तो अपने को धन्य मानती। पर तब की बात और थी। वह मेरे सामने घरमें अशक्त पड़े थे। आहार उनके लिये तब विष होता। मुझे सन्तोष था लेकिन अब तो वह पथ्य ले सकते हैं न!

बहुत देर तक कोई नहीं बोला। नैना चुपचाप कुछ सोचती रही, वन्दना के नेत्रों से आँसू झरते रहे। दिन ढलता रहा और वन्दना के कंठ में एक आकुल-व्याकुल प्रार्थना आ-आकर लौट जाती रही। अन्त में उसने साहस एकत्र किया, ऐसा न हो कि आज का यह आना एकदम ही निष्प्रयोजन हो उठे। उसने कहा—बहन, आज कैसे आपके सामने मुह खोल रही हूँ यह नहीं जानती। आप भी नारी हैं। आपकी माँग में सिन्दूर कभी चढ़ा या नहीं यह भी नहीं जानती पर यह जानती हूँ कि आप इसकी बाध्यता समझ सकती हैं। आज मैं आंचल पसार कर आपसे पति के लिये भीख माँग रही हूँ। जीवन में गर्व के मारे यह माथा किसी के सामने नहीं नवाया था लेकिन आज आपके सामने यह माथा झुक रहा है। मेरे पति के प्राण आज आपके हाथ में हैं बहन!

और सचमुच वन्दना ने आंचल पसार दिया। उसे लगा कि धरती फट जाती तो वह उसमें समा जाती। जिसके लिए मन में अब तक वह एकान्त घृणा पालती आई थी वही इस समय उसका रक्षक है। सिन्दूर-दीप्त सुहागन का गर्वोन्नत मस्तक आज ऐसी नारी के चरणों पर नत है जिसके लिये सुहाग केवल एक शब्द है, एक विडम्बना, एक खेल है। वन्दना ने एक क्षण में ही सोच लिया—मेरे इस फैले आंचल में नैना केवल उपहास और तिरस्कार की भीख डालेगी। उसे यह सब केवल एक

खिलवाड़ लगेगा। दीन-दुखिया का यह आकुल-व्याकुल निहोरा उसे हंसी से भर देगा। मैंने क्यों कहा—क्यों कहा भगवान्! अब क्या करूँ, कहाँ इस लाज को छिपाऊँ?

उसने चाहा कि एक बार नैना का विद्रूप-भरा मुख देख ले। धीरे-धीरे उसने अपनी आँखें ऊपर उठाई, देखा कि नैना के मुख पर एक अप्रत्याशित, अनपेक्षित आभा खेल रही है। उसके मद भरे नयन मुंदे हैं और उनके कोरों से कुछ मुक्ताविन्दु पिघल कर बाहर आ पड़े हैं। कपोलों पर ढुलक कर वह जैसे कोई कहानी कह रहे हों। उस अश्रुमधुर मुख की निसर्ग सुन्दर कान्ति देख कर वन्दना ठगी सी रह गई। वह स्वयं इस समय स्वार्थ में अन्धी न होती तो देख लेती कि मुँह से उसके अनुरोध का उत्तर न देकर नैना ने आँखों के पानी से उत्तर दे दिया है। वन्दना ने डरते-डरते आंचल समेट लिया और धीरे से नैना को हिला कर पुकारा—बहन!

नैना ने आँखें खोल दीं, वन्दना के दोनों हाथ पकड़ कर कहा—तुमने मुझे क्या पुकारा?

वन्दना समझी नहीं।

नैना– बहन कह कर पुकारा। यही तो?

वन्दना—हाँ बहन।

नैना—एक बार फिर पुकारो। कहो न!

वन्दना—बहन।

नैना एक बार फिर आँखें मूंद कर किसी दूसरे लोक में पहुँच गई जहाँ नित्य, अखण्ड पवित्रता का साम्राज्य था। क्षण भर में ही उसके अन्तस में दुबके हुए नारीत्व का जो परिचय वन्दना को मिल गया उससे वह सब कुछ भूलकर अभिभूत हो रही। कौन कहता है कि सुहागनों की पांत से असंपृक्त यह नारी पत्नी नहीं है, माँ नहीं है? कौन कहता है कि सामाजिक मर्यादा से छिन्न-नाल इस नारी से नारीत्व मलीन हुआ है? कौन

कहता है कि नारी वही है जिसका परिचय ऊपर की आँखों से पाया जाता है? इस प्रकट वासना के कर्दम के नीचे पावनता की जो पुण्यतोया भागीरथी सतत प्रवहमान है उसे कब, कौन देख सका है?

नैना ने अधखुले नयनों से वन्दना की ओर देखा फिर वैसे ही उसका हाथ थामे बोली—मैं भूल ही गई थी जीजी कि संसार में यह शब्द भी है। नौकर-नौकरानी सब कहते हैं मालकिन, स्वयं लालाजी कहते हैं बहू, लाला जी का लड़का कहता है माँ। पर मुझे लगता है, किसी के सम्बोधन में डर है, किसी में दया और किसी में घृणाभरी विवशता। बचपन में सौतेली मां का तिरस्कार पाया और उनके कारण बाप का। मेरी अपनी माँ तो अलग पड़ी थी। बड़ी हुई तो जिनके साथ बाँधी गई वह अपने मद में अन्धे, बंधन तुड़ाकर न जाने कहाँ चले गए। दोष उनका पर छि: छि: मिली मुझको। माँग का सिन्दूर मुझे भारी हो गया, मेरा मुँह चिढ़ाने लगा। रानीखेत की पहाड़ियों पर घूमते हुए एक दिन मिले लालाजी। अपने साथ यहाँ लाए और आज जो कुछ है वह देख रही हो। फिर भी, घर-परिवार, समाज और देश ने छि: छि: से मुझे छुटकारा न दिया। बाप-माँ, भाई-बहन, पति-पुत्र कुछ भी तो मैंने नहीं जाना जीजी, जानी केवल एक ज़बर्दस्त घृणा, तीखा तिरस्कार, धोखा और प्रेम का छल। इसी से मेरे जीवन का सूनापन भरा हुआ है।

वन्दना अपना दुख भूल गई, पूछा—लेकिन लालाजी तो आप से प्रेम करते हैं बहन!

नैना—हाँ ज़ीजी, यही एक सन्तोष है। वह जो कुछ करते हैं, शायद उसे ही प्रेम कहते हों।

कुछ देर वहाँ शान्ति रही। पति के लिए भोजन बनाने का समय आता जान वन्दना अब किसी भी तरह न रुक सकी, बोली—अब चलूँगी बहन। वह आते होंगे, सबरे भी कुछ खाया नहीं है। लौटने पर भी यदि

कुछ पथ्य न दे सकी तो उन्हें बहुत कष्ट होगा। फिर कभी आऊँगी।

दाता जब स्वयं ही भिखारी बन गया तब वन्दना उसके सामने हाथ नहीं फैला सकी। वह कमरे के द्वार तक पहुँची ही थी कि नैना ने पुकार कर कहा—ठहरो जीजी।

वन्दना ठिठक गई। कुछ पलों के लिए नैना कमरे से बाहर गई, फिर आकर मुट्ठी भर रुपये वन्दना के आँचल में बाँधती हुई बोली—ना मत कहना जीजी। अपनी छोटी बहन को और छोटी मत बनाना। और शिवनाथ बाबू से कहना कि वह घर बैठें। हर महीने तनख्वाह के रुपये तुम्हारे पास पहुँच जायँगे। अब तुम जाओ, बाहर गाड़ी खड़ी है।

वन्दना—गाड़ी? गाड़ी क्यों? मैं तो पैदल ही आई थी।

नैना—जानती हूँ, पर तब तुम नैना की जीजी नहीं थीं। तब तुम्हें बिंदिया नौकरी दे रही थी।

दोनों मुस्किरा दीं। बहुत कहने पर भी नैना ने बन्दना को पैदल नहीं जाने दिया। स्वयं गाड़ी तक पहुँचाने आई। वन्दना ने देखा, गाड़ी में एक टोकरी फल रखे हैं। नैना ने कहा—शिवनाथ बाबू के लिए हैं। वन्दना बोझ से दबी जा रही थी। गाड़ी पर बैठते-बैठते उसने पूछा—बहन, लालाजी तुम्हारी बात मान जायँगे? तनख्वाह के रुपए....

नैना ने बात काट कर हँस कर उत्तर दिया...जीजी, उनके साथ भांवरें फिर कर नहीं आई हूँ। मेरी बात वह टाल सकें, इतना साहस उनमें नहीं है।

गाड़ी आगे बढ़ी तो रोक कर वन्दना ने चकित रामदीन को भी बिठा लिया।

●

पाँच

साँझ रात की ओर बढ़ रही थी। कुएँ पर फिर एक बार मेला लगा था। जिन्हें केवल पानी लेना था वह आते, पानी भरते और एकाध बात इधर उधर की करके चले जाते पर जिन्हें अवकाश महारोग था वह कुएँ की जगत को ही नगर का पंचायत-घर समझ संसार भर का खाता वहाँ खोले हुए थे। मँगरू मिसिर लाल लंगोट पर लाल अँगौछा कमर में लपेटे अपेक्षाकृत एक ऊँचे स्थल पर लेटे हुए थे और बहुत देर से पानी भरती दुलारी को एकटक देख रहे थे। दुलारी इस बात को जानती थी और तभी पानी भर कर जाने में और देर कर रही थी। वह करे क्या, इधर कई महीनों से यह कुआँ ही दोनों का मिलनस्थल था। ऐसा तो कदाचित् ही कभी अवसर मिल पाया हो कि दोनों कुछ अपने मन की कह सुन सके हों, कुएँ पर भीड़ रहती थी और दिन भर दुलारी कठोर नियंत्रण में घर में बन्द रहती थी। ब्याह कर आने के कुछ महीनों बाद एक दिन मँगरू मिसिर दुलारी के यहाँ सत्यनारायण की कथा बाँचने गए थे। पढ़ाई-लिखाई तो उनकी उचित ही थी, पीढ़े पर नवग्रह बनाने बैठे तो अठारह घर बनाए। दुलारी के पति सुमिरन सोनार ने पूछा तो चकराए पर हिम्मत ने काम दिया, कहा—नव ग्रह और

नव उनकी घरवाली। अठारह हुए कि नहीं ? सुमिरन तो चुप हो गया पर चिक के पीछे बैठी दुलारी इस छैल चिकनियाँ ब्राह्मण के प्रत्युत्पन्नमतित्व पर रीझ गई।

सड़क पर बिजली जल गई थी। गनपत की खंझरी उसकी कुठरिया में खनक रही थी—'सड़क पर किनने जलाई लालटेन। कहाँ से आए मुंसी-दरोगा, कहाँ से आई बड़ी मेम।' इसी समय दो घोड़ों की जोड़ी गली के सामने आकर रुकी।

मुहल्ले में गाड़ी-घोड़ा मुंशी नवलकिशोर के पास ही है, इंश्योरेंस कम्पनी के मैनेजर बाबू। लेकिन उनका घर तो उधर है! सबकी उत्सुकता को पंख लग गए, इस गली में ऐसा कौन रहता है भाई, जिसके दरवाज़े जोड़ी आकर लगे! मँगरू मिसिर उचक कर बैठ गए, गनपत की खंझरी बन्द हो गई और गाड़ी का द्वार खोलकर वन्दना उतर कर जब जल्दी जल्दी सबकी नज़र बचाती अपने घर की ओर बढ़ी तब कई जोड़ी आँखें उसके पीछे चलीं। गाड़ी चली गई और उस स्थान पर एक विराट् प्रश्नचिन्ह खड़ा रहा। साथ ही खड़ा रहा रामदीन फलों की टोकरी लिए।

मुहल्ले में शिवनाथ का मान है अतः जब तक रामदीन भी फलों की टोकरी लिए वहाँ से हट नहीं गया तब तक लोगों की उत्सुकता वाणी का आधार नहीं ले सकी। उसके बाद तो संकेत, वाणी और चेष्टाओं ने मिलकर एक सीधी घटना को भी ऐसे रहस्य की चादर उढ़ा दी जिसके पार झांक पाना स्वयं वन्दना के लिये भी कठिन था।

आँगन में ही भेंट हुई परबतिया से। देखते ही बोली—काहे बहूजी, कहाँ रहलू इत्ती देर तक ? मैनेजर बाबू कबकऽ आय के उप्पर बैठल हउअन ! एक जने औरो हउअन, अब्बै अइलन हैं। ढेर-सा सामान लेके ताँगा पर अइलन हैं। मैनेजर बाबू कहलन कि परबतिया, इनकर समान उप्परै रखवाय दे। तउन हम रखवाय देहली।

वन्दना इस तरह काँप रही थी जैसे कोई अपराध करते पकड़ ली गई हो। स्वामी घर आए होंगे और उसे न देखकर न जाने क्या-क्या कल्पनायें की होंगी। सच ही तो उसे बहुत देर हो गई है। रोगी पति दिन भर अनाहार रह कर काम करके पथ्य पाने की आशा से साँझ को घर लौटा है पर घर में उसे मिलता है केवल ठण्ढा चूल्हा जो अभी अभी पोतनी मिट्टी से पोता गया है और गीला है। शायद उन्होंने सोचा हो कि मैं दीदी के यहाँ चली गई हूँ। शायद सोचा हो... कितने क्रोध में होंगे। अभी सबेरे ही इतनी कड़ी-कड़ी बात उन्हें मैंने कह डाली है। तो मैं क्या करती ? क्यों उन्होंने कहा कि मैं उन्हें काम पर भेज रही हूँ ? यह झूठ नहीं था ? यह क्या मेरे प्रेम पर लाँछन नहीं था ? क्या कोई स्त्री ऐसी बात सह सकती है ? लेकिन, लेकिन मेरे वह आँसू भी तो झूठ नहीं थे ! उन आँसुओं के पानी से धुले हुए वह पत्र के अक्षर भी तो झूठ नही थे ! स्वामी ने जाते जाते कहा था—'काम पर जाने के लिये मुँह खोलकर तुमने नहीं कहा वन्दना, पर उस चिट्ठी के अक्षरों पर पड़ी हुई आँसुओं की बूंदों ने उससे बड़ी बात मेरे कानों में चुपके से कह दी। इस अनकही बात की उपेक्षा यदि करूँ तो मुझे कलंक लगेगा। तब फिर, तब फिर मैं ही....

परबतिया ने कहा—उप्पर जाओ बहूजी, किवाड़ बन्द कै लेओ।

वन्दना ने पूछा—परबतो, बाबू को बुखार तो नहीं है ?

परबतिया एकदम ठठाकर हँस दी—तुम तो ऐसा पूछ रही हो बहूजी जैसे हम उनका छू के देखे होई ! हम का जानीं ?

ठीक कहती है परबतिया। केवल भर आँख देखकर पति के जी का हाल जानने की साधना उसे नहीं करनी पड़ी। ऐसी सिद्ध-साधिका तो वन्दना ही है।

भारी दुश्चिन्ता लिए हुए मन से रामदीन के जाने के बाद वन्दना ने किवाड़ बन्द किए और ऊपर चली। एक प्रश्न और उसके सामने आया—

यह अतिथि कौन आ गया है? आँचल में बँधे रुपये ने उसे अतिथि-सत्कार की ओर से तो आश्वस्त किया किन्तु यदि शिवनाथ ने उसके सामने ही वन्दना की अनुपस्थिति पर कुछ कह दिया, तो? उत्तर भी तो वह नहीं दे सकेगी! यह तो नहीं कह दे सकेगी कि तुम्हारे ही लिये भीख माँगने गई थी! तब उसके मौन पर वह आगन्तुक अपने मन में न जाने क्या-क्या कल्पनायें कर उठेगा। कौन है वह....कौन है आखिर....

कोठरी के बाहर ही वन्दना को सुन पड़ा—नहीं भाई, नहीं। तुम्हारे चले आने से बिन्दो को कुछ कष्ट नहीं होगा। मैं तो, देख ही रहे हो, उठ-बैठ नहीं सकता। फिर, दिन भर प्रेस में रहूँगा। घर तुम्हारा है, बिन्दो रहेगी ही। जब तक चाहो रहो। हाँ, तुम्हें कष्ट हो तो बात दूसरी है।

एक अट्टहास के साथ अतिथि के स्वर आए—मेरे कष्ट की खूब चलाई! यहाँ होटलों की कमी है क्या? फिर यहाँ क्यों आया? होटल में भाभी के हाथ का खाना तो न मिलता!

उत्सुकता ने, न चाहते हुए भी, वन्दना को भीतर भेज दिया। किवाड़ का पल्ला पकड़े हुए वह पल भर ठिठकी फिर दृढ़ पगों से शिवनाथ की चारपाई की ओर बढ़ी। आगन्तुक शायद समझ गया कि गृहस्वामिनी हैं, लालटेन के मद्धिम प्रकाश में भी खिल उठने वाली रूप की चाँदनी ने उसे मात्र एक पल के लिए चौंकाया पर तुरन्त ही अपने को सम्हाल कर अनबोले उसने नमस्कार में हाथ जोड़ दिए। वन्दना का रोम-रोम लाज से मरने लगा। कुछ ऐसा था इस अप्रत्याशित नमस्कार में जिसने वन्दना को आपादशीष कंटकित कर दिया। प्रतिनमस्कार का सौजन्य भी वह मुहूर्त मात्र के लिये भूल गई, पल भर के लिए उसकी आँखें आगन्तुक के मुख की ओर उठीं और फिर झुक गईं। किसी तरह दोनों हाथ जोड़कर उसने प्रति-नमस्कार का कर्तव्य पूरा किया।

आगन्तुक ने शिवनाथ को लक्ष्य कर कहा—शिवनाथ भाई, भाभी भी

आखिर डर गई ? मैं तुमसे कह रहा था—भाभी, वह जो तुम्हारी नौकरानी है न, क्या नाम है उसका...अरे, वही जो सब सामान ऊपर लाई थी.....

शिवनाथ ने बताया—परबतिया।

आगन्तुक—हाँ-हाँ वही, परबत पे अपना डेरा। भाभी, यह बम्बई की बनी बड़ी मशहूर फ़िल्म है...तो वह परबत पे अपना डेरा भी सामान सब धर कर ऐसी ग़ायब हुई है कि न पूछो। न चाय न पानी, जैसे मैं कोई हौआ हूँ। अरे, नरेश भी आदमी है भाई! हमारे बम्बई में यह नहीं चलता।

वन्दना ने मुस्किरा कर कहा—कहाँ, मैं तो नहीं डरी!

नरेश ने फिर अकारण हँसते हुए अपने को ही आश्वस्त किया—नहीं डरीं? चलो, अब कुछ दिन यहाँ रह सकूँगा।

छिन भर के इस अनर्गल हास-परिहास में वन्दना की लज्जा चुपके से चली गई। अपनी अनुपस्थिति पर पति के प्रश्न की आशंका दूर हो जाने से आत्म-विश्वास लौट आया। शिवनाथ के पास जाकर माथा छूते हुए बोली—बुख़ार तो नहीं आया।

बुख़ार नहीं था। एक अनिर्वचनीय प्रसन्नता का सन्तोष वाणी में बोल उठा—दिन भर चिन्ता के मारे मेरी क्या गत हुई है, मैं ही जानती हूँ।

शिवनाथ ने मुसकिरा दिया। अपने भाग्य पर नरेश के सामने उत्फुल्ल हो उठे।

वन्दना—तुम्हें तो बस, मुसकिराना आता है। बिना खाए-पिए यह रोगी देह लेकर तुम काम पर चले गए, मैं निश्चिंत बैठ सकती थी भला? अच्छा, बोलो क्या खाओगे? आज मूँग की खिचड़ी बना देती हूँ। बहुत जल्दी बनेगी।

प्रसन्नता से वन्दना के पाँव धरती पर नहीं पड़ रहे थे। आज का दिन कितना शुभ था। प्रातःकाल आकाश में कुछ अनचाहे असमय के मेघ घिर आए थे किन्तु धीरे-धीरे वह छँट गए। आज उसने जो जी चाहा सब हुआ। नैना के मन में बैठकर भगवान ने उसकी बात रख ली, कल से पति को पूर्ण स्वस्थ हो लेने तक काम पर नहीं जाना होगा। आहार-विहार की चिन्ता उन लोगों को न होगी। अब बुख़ार भी इन्हें नहीं है। हे भगवान! मन ही मन आँख मूंद कर उसने भगवान का नाम लिया और नीचे चली।

शिवनाथ ने पुकार कर कहा—बिन्दो, रोगी मैं हूँ। नरेश नहीं। मूँग की खिचड़ी इनसे न खाई जायगी।

बिन्दो "ओह" कहके लौट पड़ी, नरेश की ओर देखकर कहा—मैं तो भूल ही गई थी। आप क्या खायँगे?

नरेश जैसे दूसरी दुनिया में था, चौंक कर बोला—मैं क्या खाऊँगा? एनीथिंग भाभी, एनीथिंग जो आप खायँगी। नरेश के लिये कुछ ख़ास नहीं चाहिये। लेकन खाना पीना तो बाद में होता रहेगा, जल्दी नहीं है। पहले अगर चाय...

हाँ हाँ, अभी लाई—कहकर वन्दना नीचे उतर गई।

आँगन में एक कोने में फलों की टोकरी रखी हुई थी। संसार द्वारा अनादृता, उपेक्षिता, बन्धु-बान्धवहीना नैना के सहज-सरल हृदय का परिचय एक बार फिर वन्दना को श्रद्धाभिभूत कर गया। अगौरव के कर्दम में खिला स्नेह का यह वल्गा कब तक अपने को अछूता रख सकेगा? लोलुप जन्तु इसे वीरान कर देंगे। जीवन से परिपूर्ण यह प्रान्तर तप्तसिकता-मय मरुप्रदेश में परिवर्त्तित हो जायगा जहाँ आठोयाम घृणा और कटुता की हा-हा भरी आँधियाँ और लू के बगूले उठते रहेंगे। आज सिमंतिनी की अहम् भरी स्पर्धा को, उसकी संचित मर्यादा को निर्ग्रन्था, दिगम्बरा-

वासना का अन्तस उघार कर देख पाने का सुयोग मिला और एक नए सत्य ने अपना परिचय दिया। क्या है वह जो नारी को नारी बनाता है? उसका रूप? उसकी देहयष्टि? उसका आपादमस्तक दबा ढँका शरीर? उसके माथे की रेखा? नहीं, नहीं, नहीं। झूठ है यह सब। नारी यह कुछ नहीं है। नारी तो इन सबसे बाहर फिर भी इन उपकरणों के भीतर है। रूप उसे चाहिए, देहयष्टि उसकी सम्पदा है, लाज उसकी शोभा है और माथे की रेखा उसे एक पूर्णता प्रदान करती है किन्तु यह सब मिलकर भी नारी को अपनी परिभाषा में नहीं बाँध सकेंगे। परिभाषातीत जो है वह है नारी।

मोहाविष्ट की सी दशा में वन्दना ने चाय का पानी चूल्हे पर चढ़ाया और आँचल में बँधे रुपये खोलकर गिनने बैठी, पूरे एक सौ थे। शिवनाथ के तीन महीनों का वेतन—बल्कि कुछ अधिक ही। कितनी ज़रूरत थी इनकी वन्दना को! उसे याद आया, शिवनाथ ने एक दिन कहा था, छत पर पड़े गोल गोल चन्दा को देखकर कहा था—ऐसा ही चमचम चमकता है पैसे का मुँह! आदमी वह है जिसके पास तिजोरी में यह बन्द हैं।....पतिने, वन्दना जानती-मानती है, कठोर आघात जीवन में सहे हैं। उनकी बातों में उनका निज का अनुभव बोलता है। और आघात भरे अनुभवों ने ही उन्हें जीवन के प्रति अनासक्त और उदासीन बना दिया है किन्तु उस दिन उन्होंने अन्याय किया था। उन्होंने समाज के पुरुष को ही जाना-समझा, समाज की कठोरता ही पाई। उस कठोरता के नीचे प्रवाहित नारी की करुणा-कालिन्दी उन्होंने नहीं देखी।

चाय तो वन्दना ने मूढ़े पर रख दी पर अब बैठने की समस्या थी। कमरे में एक ही कुर्सी जिस पर नरेश बाबू बैठे थे। अब इनके सामने वह शिवनाथ की बग़ल में चारपाई पर कैसे बैठे? शिवनाथ ने लक्ष्य किया और हँस कर कहा—यहाँ बैठ जाओ बिन्दो। इनके सामने पर्दा करोगी

तो कैसे चलेगा? हम ग़रीब हैं, नरेश जानते हैं। ग़रीब जानकर भी यहाँ आये हैं।

क्यों नहीं धरती फट जाती प्रभो! सत्य भी असमय कितना मर्मान्तिक, कितना भयावना हो जाता है। यह नरेश नाम का आदमी इनका चाहे जो कुछ हो, कितना ही आत्मीय हो, और चाहे जो कुछ जानकर आया हो पर इस समय यह 'ग़रीब' शब्द जैसे भाले की नोक-सा वन्दना की छाती में छिद गया। एक हलकी सी मुसकिराहट, एक विनम्र चेष्टा,एक सलज्ज दृष्टि ही पर्याप्त थी कि जो अवसर की कुरूपता को सहजग्राह्य कर देती किन्तु वन्दना की हीनता ने सहसा ही इस अपरिचित नरेश की दृष्टि में अपने को अपमानित पाया और लाज से मरने लगी। क्यों? क्या अधिकार है इन्हें हर समय मुझे छोटी दिखाने का? क्यों यह बिना समझे बूझे सबके सामने मुझे उघार कर रख देते हैं? "हम ग़रीब हैं"—कितनी असानी से कह दिया, और यह भी कि नरेश यह बात जानता है। जानता होगा वह तुम्हें पर मुझे वह कहाँ जानता है? कितना-सा परिचय है मेरा उसे? तुम्हारे साथ-साथ मैं भी उसके सामने दिगम्बरा खड़ी होऊँ, यही चाहते हो तुम? तुम ग़रीब हो तो यह अपराध मुझे भी सिर-माथे लेना होगा?

निष्फल क्रोध की इस अवस्था से छुटकारा दिलाया नरेश ने ही, स्थिति को क्षण भर में वह समझ गया और कुर्सी छोड़ कर खड़ा होते हुए बोला—अरे, बस इतनी-सी बात भाभी? लो बैठो। देखो भाई शिवनाथ, मेरी भाभी को ग़रीब मत कहो। वह मेरी भाभी है, नरेश की भाभी है जो बम्बई का जाना माना 'शेठ' है। अच्छा, अब बैठो भी भाभी, लेकिन, हमारे बम्बई में यह सब नहीं चलता।

जैसे एकदम अनायास ही, नरेश ने वन्दना के हाथ पकड़ लिए और कुर्सी पर बैठा दिया। वन्दना स्तब्ध, सोच भी नहीं सकी कि यह क्या

हुआ! अपरिचित परपुरुष का यह अकल्पित, अप्रत्याशित अपनत्व-भरा स्पर्श, जिसमें सहज अधिकार की भावना थी, वन्दना के लिये एकदम नया था। उसके हाथों को जहाँ नरेश ने पकड़ा था वह स्थल जलने लगा। सिहर उठी वह, उस कोमल किन्तु पुरुष दबाव से उसे रोमांच हो आया। देखा शिवनाथ ने भी किन्तु उन्हें यह प्रीतिकर हुआ या अन्यथा, वन्दना नहीं जान सकी। उसने तुरन्त आँख उठाकर पति की ओर देखा पर उस मुख पर सदा की भाँति निर्लेपता खेल रही थी, या... या फिर वन्दना ने ही समझने में भूल की।

वन्दना नतशिर चाय बना रही थी और शिवनाथ कह रहे थे—यह नरेश बहुत बड़े आदमी हो गए हैं बिन्दो। जब इनसे परिचय हुआ था तब इनकी एक छोटी-सी परचून की दूकान थी। जब मैं किताबों की फेरी करता था तब कभी-कभी मुझसे लेकर कहानियों की किताबें पढ़ते थे। उसके बाद न जाने क्या हुआ कि यह बम्बई गए, कई वर्षों वहाँ धूल फाँकी........

नरेश ने बात काटी—धूल नहीं। धूल नहीं फांकी भाभी। हमारे बम्बई में धूल-ऊल नहीं चलता।

शिवनाथ ने मुसकिरा कर आगे कहा—ख़ैर, बम्बई गए और वहाँ से 'शेठ' बनकर लौटे हैं। लाखों का बिज़िनेस है, नाम है पर सरल ऐसे कि बड़े से बड़े होटल में ठहर सकते हैं पर आए हमारे यहाँ। यह हमारा सौभाग्य नहीं है बिन्दो?

वन्दना ने चाय नरेश के सामने खिसकाते हुये देखा, दोनों हाथों की उँगलियों में अँगूठियाँ चमक रही हैं, एक का पत्थर मन्द प्रकाश में भी खूब दमक रहा है, शायद हीरा हो। गले में कुर्ते के ऊपर से मोटी सोने की जंज़ीर झाँक रही है और कुर्ते के बटन भी शायद जड़ाऊ हैं। चप्पल सादी पर ऐसे कट की जैसी इधर नहीं देख पड़ती। वय? वय

कुछ अधिक नहीं लगती, लगभग पति की ही उम्र है। अन्तर इतना ही है कि एक की वय इच्छाभिघात और अभाव से बोझिल जीवन की गाड़ी खींच रही है, दूसरे की वही वय सन्तोष और तृप्ति और पूर्णता का आधार पाकर खिली हुई है। नरेश ने एक हाथ की अँगूठियाँ निकाल कर दूसरे में पहनीं और गले की चेन को नीचे खिसकाया। शायद वह भी समझ रहा हो कि और सब स्थान छोड़कर यहाँ आने का उसका अनुग्रह इन लोगों के लिये सौभाग्य ही है। वन्दना को वैभव का यह सहज प्रदर्शन यद्यपि अच्छा नहीं लगा, यद्यपि उसने चीख कर पति से कहना चाहा कि तुम देखो कि तुम्हारे मित्र-परिचित भी आज सोने चाँदी से खेल रहे हैं और तुम जहाँ के तहाँ जड़ हो, पत्थर हो पर सहसा ही उसे अपनी बाहों पर का मृदु दबाव कसकता-सा लगा। उसने केवल इतना ही पूछा—क्या बिज़िनेस है आपका?

नरेश ने निर्लज्ज हंसी हँसते हुए उत्तर दिया—बिज़िनेस? सच पूछो भाभी तो मैं खुद नहीं जानता। बिज़िनेस करने के लिये चाहिए रुपया और वह मैंने लगाया नहीं। मेरे पास तो अनायास रुपए आते हैं। और शिवनाथ भाई ने जो लाखों की बात कही वह इनकी ज़्यादती है। हाँ, मेरी अपनी ज़रूरत से ज़्यादा ही मुझे मिल जाता है। और क्या चाहिए? परिश्रम न करना पड़े और ज़रूरत से ज़्यादा रुपए मिलें तो फिर और क्या चाहिए?

और क्या चाहिए यह वन्दना नहीं जानती। जब दिन रात कठोर परिश्रम—रोगग्रस्त देह से कठोर परिश्रम—करने पर भी उसकी अपनी ज़रूरतें उधारी रहती हैं, भरपेट भोजन और तन ढँकने को वस्त्र के लाले रहते हैं तब हीरे की अँगूठी और सोने की चेन और जड़ाऊ बटन पहनने वालों की ज़रूरत से ज़्यादा रुपए क्या मोल रखते हैं, वह सोच भी नहीं सकती। उसे अच्छा नहीं लगा कि वह इस अपरिचित से उसके धन के

विषय में कुरेद-कुरेद कर पूछे।

लेकिन नरेश को तो कहना ही था—भाभी, मैं 'एक्सट्रा सप्लायर' हूँ वहाँ, फ़िल्म कम्पनी वालों को लड़कियाँ देता हूँ।

वन्दना चौंकी—लड़कियाँ देते हैं?

नरेश—हाँ भाभी, हाँ। लड़कियाँ सप्लाई करता हूँ। अच्छा ख़ासा रोज़गार है। एक दफ़्तर खोल लिया है—मूनलाइट एक्स्ट्रा सप्लायर्स। अब तुम जानो भाभी कि हर फ़िल्म में दस बीस लड़कियाँ एक्स्ट्रा लगती ही हैं, हीरोइन और साइड-हीरोइन के अलावा। कम्पीटिशन बहुत है, जितनी तो कम्पनियाँ नहीं हैं उतने एक्स्ट्रा सप्लायर्स हैं, पर किसी तरह काम चल ही जाता है। साल में सौ-दो सौ लड़कियाँ इस हाथ से निकल ही जाती हैं। कुछ भी हो, परचून की दूकान पर बैठकर दिन भर मक्खियाँ उड़ाने से तो अच्छा ही है।....कहाँ हैं भाभी आप? एक कप और।

वन्दना सच ही वहाँ नहीं थी। उसे नरेश की बात समझ में नहीं आ रही थी। लड़कियों को लेकर रोज़गार? साल में सौ-दो सौ लड़कियाँ इस आदमी के हाथ से इधर से उधर हो जाती हैं? एक्स्ट्रा सप्लायर्स? यह सब क्या है भगवान? और कल तक परचून की दूकान पर बैठने वाला यह आदमी आज इस रोज़गार से 'शेठ' बन गया है! नरेश की चाय की माँग पर वह जैसे नींद से जागी, एक बार उसकी ओर देखा और प्याले में चाय ढालने लगी किन्तु हाथ काँप रहे थे। थोड़ी सी चाय छलककर नरेश के पाजामा पर जा पड़ी। बिलकुल सहज भाव से वन्दना मूढ़े के नीचे झुकी ताकि पाजामा पर से चाय की पत्तियाँ झाड़ दे, लगभग उसी क्षण नरेश का हाथ भी उस स्थल पर पहुँचा और......

वन्दना ने अपना हाथ झटके से खींचा और तीव्र दृष्टि से देखते हुए कहा—नरेश बाबू।

नरेश ने बात को उड़ाते हुए सहज भाव से हँस दिया—कुछ नहीं,

कुछ नहीं भाभी। सब ठीक हो जायगा लेकिन हमारे बम्बई में यह नहीं चलता।

शिवनाथ आँख मूंद कर तकिए पर लेट गए थे। वन्दना के स्वर में कुछ ऐसी रुक्षता थी कि उनकी आँखें खुल गईं, पूछा—क्या है बिन्दो ?

उत्तर दिया नरेश ने—कुछ नहीं शिवनाथ भाई, मेरे कपड़ों पर ज़रा चाय गिर गई। भाभी उसी के लिए मुझसे कह रही थीं।

शिवनाथ ने निश्चिन्त मन से अबूझ सा कहा—दिन भर की थकावट के बाद, लगता है जैसे झपकी आ गई थी। बिन्दो, देर हो रही है, खाना-पीना ख़त्म करो। इनकी बात तो अब कई दिनों तक सुननी है।

...उस दिन सब काम समाप्त कर सोने के लिय ऊपर आते आते वन्दना को आधी रात हो गई। छत पर खुले आकाश से ऊमस बरस रही थी। चारपाइयों की कमी होने से धरती पर ही बिछावन लगे थे, एक ओर नरेश, बीच में शिवनाथ और तब वन्दना! हवा का कहीं नाम नहीं, सब ओर घुटन, घुटन, घुटन। आकाश और धरती की आग ने मिलकर जैसे सब कुछ भूनकर रख दिया था। मुंडेर से लगे पेड़ के पत्ते भी झुलस गए हों, उनमें भी प्राणों का स्पंदन नहीं था। ऊमस, ऊमस, घुटन, घुटन! ऐसी ही मोटी परतों वाली ऊमस वन्दना के मन पर भी छा रही है। ऐसा ही प्राणलेवा घुटन उसकी छाती के भीतर भी उमड़ घुमड़ रही है। जब से वह नैना के यहाँ से लौट कर आई है, एक क्षण को भी पति को एकान्त में नहीं पा सकी। उसे बहुत-सी बातें कहनी हैं, बहुत-सी बातें सुननी हैं। कहना है कि वह नैना के पास गई थी, कि अब शिवनाथ को काम पर नहीं जाना होगा, कि तनख़्वाह हर महीने घर बैठे आ जायगी, कि नैना वही नहीं है जो मैं सुनती आई थी, वह देवी है। सुनना

है कि शिवनाथ का दिन कैसे बीता, कि यह नरेश क्यों यहाँ रहेगा, कि यह लड़कियों का रोजगार करने वाला आदमी शिवनाथ का आत्मीय कैसे और क्यों है? .... ब्याह कर आने के थोड़े दिनों बाद मुझे खिड़की में बैठी देखकर फूलों का गुच्छा दिखानेवाले उस लड़के से यह नरेश नाम का आदमी कुछ भिन्न है क्या? तब तो मैं उतना नहीं समझी थी लेकिन अब समझ रही हूँ कि समय और सुविधा और सामर्थ्य का सहारा पाकर मूल में हर पुरुष एक है। वह लड़का भी, नैना के यहाँ का दरबान भी, यह नरेश भी और .... और .... मूढ़े के नीचे नरेश के हाथ का स्पर्श सहज था क्या? असावधान था क्या? कुर्सी पर मैं कह देने से भी तो बैठ सकती थी, बाँह पकड़ कर बिठाना क्यों आवश्यक था? यह हीरे जड़ी अंगूठियाँ, सोने की चेन, जड़ाऊ बटन, यह सब.... क्या हैं यह सब? घुटन, घुटन, ऊमस!

पीछे से स्वर आए—क्या सोच रही हो भाभी?

वन्दना को ध्यान भी नहीं था कि वह बहुत देर से मुंडेर पकड़े खड़ी है। स्वर पर चौंक कर उसने मुड़ कर देखा, नरेश उठकर बिछावन पर बैठ गया है और उसे ही देख रहा है। वह लजा गई और अपने बिछावन पर बैठते हुए बोली—आप अभी जाग रहे हैं? मैं समझी, सो गए हैं। 'यह' तो खूब गहरी नींद में सो रहे हैं! दिन भर के थके भी तो हैं और फिर रोगी देह......

ममता से आर्द्र नेत्रों से उसने शिवनाथ की ओर देखा। चाहा उसने कि आँसुओं से उनका सारा दुख-दरद हर ले, उनके थके हुए शिथिल चरण गोद में लेकर बैठ रहे, उनके निद्रालु नयनों पर अपने करुणा कर, स्नेहालु कर फेर कर सुखनिंदिया और भी गहरी, और भी शान्त बना दे पर यह नरेश जो सामने बैठा है। सहज-स्वाभाविक इच्छा के दमन ने उसे बौरानी कर दिया।

इधर नरेश कह रहा था—कौन, शिवनाथ भाई? मैं कहता हूँ भाभो, यह थके न होते और रोगी देह न भी होती तब भी ऐसे ही सोते! तुम उनके लिये नई तो हो नहीं, मेरे लिये नई हो। भाभी सब दिन तो नई नहीं रहेगी न?

वन्दना को लगा कि धरती फट जाय तो वह उसमें समा जाय।

नरेश—और फिर भाभी, जगह बदल जाने से भी तो नींद नहीं आती न! क्या कहती हो?

वन्दना को कहना पड़ा—हाँ, ऐसा होता है।

कुछ देर शान्ति रही। नीचे आंगन में कोई बर्तन गिरा। चूहों के पीछे बिल्ली दौड़ी होगी, और क्या?

ऊमस बढ़ती ही जा रही है। दूर-दूर तक कहीं एक चिरैया भी नहीं बोल रही। जेठ की रात का पिछला पहर....सड़क पर कभी कभी कुत्ते भूंक उठते हैं। किशन हलवाई की बन्द दूकान के आगे फेंके हुए दोनों में आकर्षण है। भु: भु: कुत्ते लड़ते हैं और गोल के दुर्बल कुत्ते को भागना पड़ता है—कें कें कें।....शिवनाथ के माथे पर पसीने की बूँदे सप्तमी की चाँदनी में चमक उठीं। चाहा वन्दना ने कि आँचल से पोंछ दे पर नरेश जो बैठा है। पास ही रखी बेनियाँ उसने उठा ली और हाँकने लगी। परम तृप्ति के साथ।

नरेश बोला—आह, लेकिन हमारे बम्बई में यह नहीं चलता भाभी।

वन्दना—क्या नहीं चलता?

नरेश—यही सब जो आप कर रही हैं!

वन्दना ने पूछना चाहा कि बम्बई में—तुम्हारी बम्बई में—क्या स्त्री नहीं रहती? क्या वहाँ नारी के हृदय की एकान्त निष्ठा, सेवा की अदम्य वांछा मर गई है? या कि वहाँ....लेकिन वह क्यों पूछे? अनजान में ही उसका चलता हाथ रुक गया। क्या सोचा होगा इस नरेश

ने ? कितनी हलकी मुझे समझा होगा ? पति हैं तो क्या उसका ढोल पीट कर प्रदर्शन भी आवश्यक है? सोचा वन्दना ने।

तभी कुनमुनाये शिवनाथ और उठ कर बैठ गये। एक ओर नरेश को उन्होंने चुपचाप बैठे देखा, दूसरी ओर वन्दना को। पल भर के लिये . . . दूसरे ही क्षण उन्होंने रहस्यमय स्वर में कहा—क्या बात है बिन्दो? बैठी कैसे हो? नींद नहीं आ रही क्या?

उत्तर की प्रतीक्षा भी उन्होंने नहीं की, जैसे सही बात समझ गये हों—ओह, लेकिन तुमसे तो पहले ही कह दिया भाई कि इनसे लाज करने से नहीं चलेगा। एक दिन की बात तो नहीं है न! गर्मी इतनी है, कमरे में सोया नहीं जा सकता। एक ही छत है सो जैसे तैसे सोना तो पड़ेगा ही। जब हमें ग़रीब जान कर भी यह कष्ट उठाने के लिये तैयार हैं, होटलों के पंखे और पलंग का मोह छोड़कर यहाँ नंगी धरती पर सोने आए हैं तब हमें क्या लाज? तुम सोओ बिन्दो, मैं आता हूँ।

वह उठे। अभ्यासवश वन्दना ने पूछा—क्या चाहिये? पानी? लाती हूँ मैं।

शिवनाथ—नहीं, ज़रा नीचे जाऊँगा। लालटेन जल रही है न?

शिवनाथ के जाने के बाद कुछ क्षण चुप रहकर नरेश ने कहा—भाभी, एक बात कहना चाहता हूँ।

स्वर के परिवर्तन पर वन्दना शंकालु हुई—कहिए।

कुर्ते की जेब से एक डिबिया निकाल कर वन्दना की ओर बढ़ाते हुए नरेश हौले हौले कहने लगा—इसे रख लो भाभी, बम्बई से चला था तो तुम्हारे लिए लेकर चला था। ख़ाली हाथ आना मुझे अच्छा नहीं लगा। इसे तुम स्वीकार न करोगी तो मुझे दुख होगा। बस, एक प्रार्थना है। शिवनाथ भाई न जानें कि मैंने इसे तुम्हें दिया है। इसे मेरी छोटी सी भेंट समझो भाभी!

नरेश के आग्रह-करुण स्वर और निवेदन की मुद्रा ने वन्दना को कंटकित कर दिया। उसने जल्दी से डिबिया खोली—गहरे नीले वेल्वेट के आधार पर बीच में छोटी मोती के दाने के बराबर हीरे की नाक की कील जगमग कर उठी। वन्दना डर गई, जीवन में प्रथम बार आज उसे अनुभव हुआ कि वह कितनी असहाय है, कितनी कदर्य है, कितनी परवश है। उसे ग़रीब जानकर, साधनहीन और दरिद्र जानकर सामने बैठे इस क्षण भर के परिचित पाहुने का साहस हुआ है कि उसके नारीत्व से खिलवाड़ करे। वन्दना के शृंगारहीन, बुझे सौन्दर्य ने, दरिद्र टूटे घर के नंगे पर्यावरण ने और इन सब से बढ़कर उसके स्वामी के दीन हीन मुख के 'ग़रीब' शब्द ने इस पुरुष को यह साहस दिया कि वह समझे कि वन्दना इस भेंट पर टूट पड़ेगी और अपना अहोभाग्य समझ इसे सिर-माथे लगा लेगी। इतना ही नहीं, वह चोरी करेगी। पति से न कहने का कलंक उठाएगी। सब कुछ करेगी पर इस भेंट को ग्रहण करेगी ही। विचलित हो उठी वन्दना, उस ओर अधिक देखने का साहस न हुआ, जल्दी से डिबिया बन्द कर लौटाते हुये बोली—नहीं नहीं, यह नहीं होगा नरेश बाबू। यह मैं नहीं ले सकूँगी। उनसे बिना कहे कुछ लेने में मुझे पाप लगेगा। इसे रख लीजिए।

नरेश ने हाथ बढ़ाकर डिबिया ले ली, इतना ही कहा—उनसे कभी न कहने की बात नहीं है भाभी। मैं तो यही चाहता था कि अभी न कहतीं। मेरे जाने के बाद जब कभी इसे पहनतीं और वह पूछते तब बता देतीं। मुझे दुख हुआ भाभी, तुमने मेरी यह छोटी-सी बात नहीं रखी। बहुत दुख हुआ। जाने दो। तुम भूल जाओ कि कभी किसी ने तुम्हें एक भेंट देनी चाही थी और तुमने उसे ठुकरा दिया। लेकिन न लौटातीं तो शायद उस किसी एक का मान रह जाता। इसमें पाप की बात कहाँ उठती है भाभी?

वन्दना आज यह सब क्या सुन रही है? इस तरह तो उससे आज तक किसी ने बात नहीं की। उसके स्वीकार-अस्वीकार पर किसी का मान रह सकता है या जा सकता है यह तो वह जीवन में पहली बार देख रही है! उसकी हाँ का अर्थ किसी के लिए सन्तोष का कारण है और उसकी ना किसी को गहन गर्त में गिरा सकती है, अपनी इस क्षमता पर उसे स्वयं चकित रह जाना पड़ा। मन के अन्दर बोझ से दबी नारी कुतूहल से कुनमुनाई, तीन खण्डों वाले भवन में रहने की बचपन की संचित साध ने ज़रा-सा सिर उधार कर झाँका और वन्दना ने अपने को समझाया—क्या अपराध है इसमें? नरेश बाबू इनके मित्र हैं, अजनबी नहीं। स्वामी ने बार-बार कहा है, इनके सामने कैसा पर्दा? हमेशा तो यह रहेंगे नहीं, जायँगे ही। तब किसी दिन उनसे कह दूँगी कि नरेश बाबू यह दे गए थे। आख़िर आदमी का काम आदमी से ही चलता है! ... कितने दुखी हो गए बिचारे, मेरे लिए बम्बई से लाए थे। लौटा देने पर उनका मन दुखी होगा। कहते हैं, इसमें पाप नहीं है।

सीढ़ियों पर शिवनाथ के आने की आहट हुई। वन्दना ने धीरे से कहा—अच्छा लाइए, रख लेती हूँ।

नरेश ने तुरन्त डिबिया दे दी, समझाया—प्रेस-सिस्टम है भाभी। पहनने में कष्ट नहीं होगा। तुमने मेरा मान रख लिया, मेरी अच्छी भाभी!

वन्दना लेट गई, डिबिया तकिए के नीचे डाल ली। नरेश ने सोने का स्वांग रचा। शिवनाथ ने लेटते हुए धीरे से कहा—बिन्दो, सो रही हो?

वन्दना—हाँ। अब नींद आ रही है।

तुम क्या जानोगे स्वामी कि इन कुछ क्षणों में ही तुम्हारी चिर-परिचिता पुरातन वन्दना का नवीन संस्कार हुआ है! उसके अपने मूल्य

का जो प्रश्न तुम्हारे पास सदैव अनुत्तर रहा वह आज इस अपरिचित के माध्यम से अपना प्रतीक्षित उत्तर पा गया है। और जो बिन्दो आज तीन वर्षों से तुम्हारे सामने किताब के पन्नों की तरह खुली रही वही बिन्दो इन कुछ क्षणों में तुमसे भी कुछ गोपन रखने की कला सीख गई है। वह चोर है, चोर.....

चोर....अपराधी......दूर कहीं नैना की नाक में जगर-मगर करती हीरे की कील...नरेश......चोर......घूर्णिचक्र, वात्याचक्र....तकिए के नीचे दबी डिबिया! वन्दना चोर है, चोर है!

छः

चोर. . . . चोर ! भोर में चमकने वाला एक तारा अभी झिलमिल कर रहा है। आकाश के नन्दन-वन से झरा हुआ हरसिंगार के फूल जैसा।

सपना देख रही है वन्दना। भोर का सपना! असमय का हर-सिंगार।

रात भर की ऊमस और घुटन में जागरण से अलसाए नयन भोर की मीठी बयार में खुलना नहीं चाहते। जेठ की अन्तिम रातों का बिहान किरणों के रथ पर चढ़कर धरती पर बहुत जल्दी उतर आता है। ऐसे में भर नींद सोया नहीं जा सकता—सपना न देखे कोई तो क्या करे? देख रही है वन्दना कि उसके घर में सेंध लग रही है। चोर का साहस बढ़ता जा रहा है। एक युग से संचित उसकी निधि लुट जायगी, चोर उसे एकदम निःस्व करके चला जायगा, वह असहाय हाथ उठाकर रोक भी नहीं सकेगी। लेकिन चोर तो पुरुष है, वन्दना है नारी जो उसके आगे पराजित है, अवश है। अरक्षित है आज वह। रक्षा के जिस हाथ के नीचे उसने अपने को सुरक्षित समझा था वह हाथ आज अपनी दुर्बलता में अक्षम है—इस भरे-पुरे संसार में वह बिलकुल अकेली, निपट असहाय,

अपनी युगान्त संचित निधि की गठरी कुटिया के कोने में संजोए धरती पर पड़ी हुई है।....आले पर बलता हुआ दिया बुझ गया है, घुप्प अँधियारा और अवसर और सुविधा पाकर यह चोर....अरे, क्या करोगे भाई इस दरिद्रा को लूटकर? इसके पास है क्या? इसका तो सब कुछ पहले ही लुट चुका....गर्व की वस्तु इस धरा-धाम पर कहीं नहीं बची।

सुनते हैं, निडर और साहस बढ़ा हुआ चोर सेंध में गाता है—बरियार चोर सेंधी में गावै! मीठे सुरों का स्रोत कंठ कोई हो, संगीत तो मोहता ही है! चोर के कंठ में संगीत है....

परसादी की दूकान से गीत अभी उठ रहा था—
धउतइ नउआ रे धउतइ बरिया, धाई अजुध्या क जाऊ।
केते दल अइहैं ईसर सदासिव, जेहि देखे रीधौं मैं भात॥
गलिया बहारे हिमाचल की चेरिया, मैना से करे अरदास।
ना देख्यों आजन, ना देख्यों बाजन, ना देख्यों झंडा निसान॥
डूंड़े बैल एक तपसी असवार, जैसे भाट भिखारि।
इतनी बचन सुनि मैया मैना रानी, गिरीं मुरछवन खाइ॥
ऐसे तपसिया का ना गौरा बेहब, बरु गौरा रहिहैं कुवांरि।
इतनी बचन सुनि बेटी गौरा रानी, बैठी हैं मैया की गोद॥
ना मैया रोवौ, ना मैया झंखौ, ना मैया होहु उदास।
जो कुछ लिखा मैया हमरे करमवां, सो कुछ मेटि न जाय॥
....

बमभोला और गौरा पार्वती का विवाह! नारी-हृदय की निगूढ़ बेदना का चेतन चरम-चित्रण। डूंड़े बैल एक तपसी असवार और गौरा पार्वती, जिनके लिए बाबा तुलसी को कहना पड़ा—तेहि सिंगार न करौं बखानी। शंभु को बर रूप में देखकर मैना हतचेतन होकर गिर पड़ीं

और भवानी को कुंवारी रखना इस अटपटे परिणय से रुचिकर उन्हें लगा। कुंवारी! वन्दना की कुंवारी कल्पनाओं का ग्रन्थिबन्धन भी रूखे ठँठ से हो गया और वह टुकुर-टुकुर देखती रही। मन-मुकुर उसका चूर-चूर हो गया। गौरा पार्वती ने कर्म का लिखा अमिट मानकर अपना सुहाग ग्रहण किया, वन्दना तो यह भी नहीं कर सकी। सोचने विचारने की वयस ही उसकी नहीं थी, उसने तो बस, सुहाग ओढ़ भर लिया। बड़ी होती वह, बूझने समझने की परख होती तो इस सुहाग की चादर की ताना-भरनी और तार-तार की वह परीक्षा कर लेती किन्तु तब वह आकाश के टूटते तारों को आंचल में समेटने की साध रखने वाली अबोध और अनजान बालिका थी। जो कुछ हुआ, जैसे हो ही गया। उसे होना ही था। न होना संभव नहीं था और तीन वर्षों बाद यौवन-देहरी पर चकित-विस्मित, ठगी-सी वन्दना ने जब बाहर के संसार को भर आँख देखा तब उसे लगा, वहाँ मधु की कालिन्दी लहरा रही है। अंजलि भर-भर पीने की सुविधा सबको है पर अभागे हैं कि तट तक पहुँच भी नहीं पाते। यौवन और नारीत्व के ज्ञान ने उसे नियति के विरुद्ध सोचने का बल दिया। शिवनाथ की भाग्य-कातर अक्षमता को वन्दना की ओर से चुनौती मिली—भाग्य है तो रहे अपनी जगह वह ठीक है। उसे लेकर हमारी चेष्टाएँ कुंठित न हों। विफलता और अभाव और असा-मर्थ्य के महा-विराट शून्य में हमारा जीवन त्रिशंकु-सा बन कर न रह जाय। जीवन जीने के लिए है, आनन्द के परम और चरम उपभोग के साथ। किन्तु....

किन्तु?....आनन्द की कोई निश्चित परिभाषा है क्या? सुख का कोई एक मापदण्ड है? किसी को दूसरे की वस्तु ले लेने में जो भावना होती है, बालक को खिलौना तोड़ देने में जो प्रसन्नता होती है, आनन्द उसे कहेंगे? सुख क्या उसे ही कहते हैं? तब, सुख क्या है?

अपने मन को जो अच्छा लगे? जो कुछ करके मन को सन्तोष हो? अन्य दस जन का जिसमें कल्याण हो? सुख वह है। आनन्द वह है। यहीं आते हैं धर्मगुरु, यहीं आते हैं मतप्रवर्तक-उपदेशक, यहीं आते हैं पाप-पुण्य और नीति के धुरीण व्यवस्थापक। सबके सहकार से समाज में समूह के सुख के लिए सुन्दर-सुन्दर व्यवस्थायें की गईं पर मूल में व्यक्ति रह गया अकेला, निःस्संग। अपने मन के असंतोष को लिए लिए वह युग-युगान्त से भटकता फिर रहा है, युग-युगान्त तक भटकता फिरेगा एक प्रकाश के लिए। पड़ोसी के अधरों पर हँसी बिखेरने के लिए अनगिन बार उसने सूने में अपने आँसू पोंछ लिए हैं। कोई कहता है यह भला है, ऐसा ही होना चाहिये। कोई कहता है, यह निजस्व का आत्मघात है, कल्याण का पथ प्रशस्त इससे नहीं होता। सत्य कोई नहीं पा सका और व्यक्ति का यात्रा-पथ अब तक अनिर्णीत रहा आया है।

पीपल की किसी डाल पर एक पंडुकने अपना घोंसला बनाया है। उसका रात का साथी न जाने कहाँ सुबह होते ही चला जाता है, दाने की खोज में। पंडुकी बिचारी दूर नहीं जा सकती, उसके घोंसले में नन्हें नन्हें तीन बच्चे हैं जो उसके हटते ही कातर हो उठते हैं। वह किरण फूटते ही इस छत पर उतर आती है और व्यर्थ ही कीड़ों के लिये चोंच चलाती रहती है। अपने दूर गए साथी के लिए उसके मन में एक आशंका भी रहती है, ऐसा न हो कि वह न लौटे। अपने पहले प्रेमी की याद उसे नहीं भूलती। उस दिन रात भर दोनों ने डाल पर नेह की कैसी कैसी बतियाँ की थीं, सदा सदा के लिए उसके साथ रहने का आश्वासन दिया था, भावी सन्तति के मंगल के लिए कामनाएँ की थीं और उनके पोषण संरक्षण के लिए कल्पनायें सँवारी थीं।.... पहली किरण के साथ दोनों छत पर उतरे। पंडुकी के मदालस नयनों में प्रेमी के लिए रस छलक रहा था, पंडुक नेह विभोर उसे निहार रहा था। लेकिन सुख तो अमर नहीं है न! न जाने

कहाँ से वह काली बिल्ली एकदम झपट कर पंडुक को ले भागी, पंडुकी फुर से उड़कर डालों में छिप गई और उसने वहीं से टुकुर-टुकुर देखा, देखती रही अपने प्रेम की परिसमाप्ति!....जीवन जीने के लिए है। रोती वह कब तक रहेगी? दो चार दिनों तक उसे जीवन, लगा कि, बुझ गया है। अपने को भी वह नष्ट कर देना चाहती थी पर पेट के बच्चों ने उसे ममता दी, जीने का बल दिया और तभी आया यह दूसरा साथी। उसने नेह का हाथ बढ़ाया, पंडुकी ने गह लिया और यह दूसरा साथी भी, बाँह गहे की लाज निभाता, पंडुकी के विगत जीवन के इतिहास से अनवगत रहना चाहता था, उसके बच्चों से ईर्ष्या या घृणा उसे कभी नहीं हुई।... पंडुकी के मन में अपने इस दूसरे साथी के लिए भी आशंका है।

सूरज के सतरंगी रथ के पहियों ने आकाश की सोने की धूल इधर उधर बिखेर दी। रथ आगे बढ़ गया। प्रभात की पीली धूप मुंडेर लाँघ कर छत पर उतरी और वन्दना से खेलने लगी। उसका चन्द्रानन पसीने की बूँदों से झिलमिल कर उठा। स्वप्न किरणातप में गल गए और जाग गई वन्दना। एकदम उसने अपने चारों ओर देखा, कोई है तो नहीं। उसकी अस्तव्यस्त देहयष्टि को किसी ने देखा तो नहीं। साथ ही उसे लाज भी आई, स्वामी के पहले ही उठने वाली वह आज इतनी देर तक सोई कैसे रह गई! उस बात को जाने भी दे, कल के उस अजनबी पाहुने ने क्या सोचा होगा? उसने तो उठने पर उसकी उघरी पिंडलियाँ नहीं देखीं? अजनबी पाहुना! सपने का चोर...वन्दना....छलमयी नारी... आकाश के नन्दनवन से झरा हरसिंगार का फूल!

डिबिया को छाती से लगाए वह जल्दी से नीचे उतरी। पति को वह एकान्त में पाना चाहती थी। उनके आगे वह डिबिया फेंक कर कहना चाहती थी, यह है तुम्हारे बम्बई के 'शेठ' मित्र की स्नेह-भेंट! बोलो, क्या करूँ इसका? ओढ़ं या बिछाऊँ? पहन तो मैं सकती नहीं, क्या

कहेंगे लोग? तीस रुपए पाने वाले क़लम के मज़दूर की बीबी को नाकमें हीरे की कील पहने देखकर समाज की वर्गगत मर्यादा रहेगी क्या?... किन्तु, किन्तु देने वाले हाथों ने इसे स्नेह की भेंट कहकर दिया है। स्नेह, वही स्नेह, वैसा ही स्नेह जो खिड़की में असावधानी से बैठी युवती नारी को देखकर फूलों का गुच्छा दिखाने वाले उस लड़के के मन में उभरा था। फूलों का गुच्छा....हीरे की कील! सड़क का आवारा लड़का, बम्बई का रुपए वाला शेठ! नारी सबके लिये वही, मन और तन की तुष्टि का साधन! यह भेंट नैना को मिलती, उस जैसी किसी अर्थ की दिशा से मुक्त रूपसी को मिलती तो उसके अन्य अलंकारों के साथ खप जाती। देने वाला और लेने वाला, दोनों उस क्षण विशेष के बाद इसे भूल जाते किन्तु वन्दना के श्रृंगारहीन, दयनीय, दीन नारी का इतिहास इस हीरे की दमक के साथ सदा उसका उपहास करता रहेगा।

कमरे के बाहर ही उसने सुना—लेकिन हमारे बम्बई में तो ऐसा नहीं चलता भाई!

क्या नहीं चलता?—शिवनाथ के स्वर थे।

यही कि घर की मालकिन को उठने में देर हो जाय तो सबेरे की चाय-वाय सब बन्द! अरे भाई, चाय तो बाहर भी पी जा सकती है। चलो न!—नरेश बोला।

शिवनाथ ने गम्भीर होकर परोक्ष में वन्दना की प्रशंसा करते हुए कहा—नरेश, कहीं अपनी भाभी के सामने बम्बई के इस गुण का बखान मत करना। वह बड़ी पागल है, अपमान मान लेगी। अतिथि घर में हो और उसे बाहर से खाना-पीना पड़े, यह हमारे घर की परम्परा नहीं है। तुम्हारे बम्बई में होटल ही लोगों का घर होता हो, हमारी ओर घर अभी होटल नहीं बने हैं।

नरेश ने अपनी बात पर दृढ़, कहा—लेकिन सोचो तो शिवनाथ भाई,

कितना आराम भी तो रहता है! कोई झगड़ा झंझट नहीं। चाय की बात तो, ख़ैर, जाने दो, वह तो अपने से भी बना ली जा सकती है, नौकरानी भी बना देगी। बनाने के लिए कोई ज़्यादा जगह भी नहीं चाहिए पर खाना-वाना बड़े झंझट का काम है, उसके लिए जगह भी ज़्यादा चाहिए। अनाज मँगवाओ, उसको साफ़ करवाओ, बर्त्तन भांड़ा इकट्ठा करो, कोयला लकड़ी जमा रखो, रोज़ साग-सब्ज़ी मँगवाओ। कौन इतना सिरदर्द मोल ले! होटल में गए, खाना खाया, पैसे दिये और बस! मैं कहता हूँ शिवनाथ भाई, मैरीन ड्राइव पर फ़्लैट्स में रहने वाले ज़्यादातर लोग यही करते हैं। हमारे बम्बई में यह सब नहीं चलता।

वन्दना अन्दर आ गई, हँसकर कहा—लेकिन बनारस में यह सब चलता है नरेश बाबू। एक थे भागीरथ, वह गंगा को पृथिवी पर उतार लाए लेकिन वह बहुत पुरानी बात हो गई। आज भगीरथ प्रयत्न करके भी कोई भागीरथ अरब-सागर को बनारस तक नहीं ला सकता। तब फिर बम्बई का बखान करके उदास क्यों होते हैं? बैठिए, आपको चाय अभी मिली जाती है।

नरेश चौंका—लेकिन भाभी... मेरा मतलब....

वन्दना—कुछ भी रहा हो, वह मैं जान कर क्या करूँगी। बम्बई, सुनती हूँ, बड़ी जगह है। वहाँ रुपए वाले लोग रहते हैं। हम उनकी नक़ल करके क्या करेंगे?

अनायास ही उसके मुँह से निकलने जा रहा था कि हम ग़रीब हैं, हम उनकी नक़ल करके क्या करेंगे। किन्तु एक झटके से उसका आत्म-गौरव सचेत हो गया। मुट्ठी में दबी डिबिया पर दबाव और बढ़ गया और उसने कहा—चाय ला रही हूँ।

नरेश ने इस स्थिति की कल्पना नहीं की थी। रात के नीरव क्षणो में उसकी स्नेह-भेंट को चुपचाप स्वीकार कर लेने वाली नारी उससे

परिचित हो गई है, परुषता का यह अहम् उसे रात भर बहलाता रहा और भावो स्वप्नों का आल-जाल बुनता रहा। बम्बई से यहाँ आना उसका व्यर्थ नहीं हुआ। नाक की होरे की कील विशेषतया वह वन्दना के लिए लेकर चला हो, यह बात नहीं थो। उसके बक्सों में इस तरह को छोटी-मोटी उपहार के वस्तुओं की कमी नहीं थी। उसके पैसों ने उसे नारो की कोमलताओं से खेलने की उकसाया था। यांत्रिक युग की चकाचौंध सम्यता ने उसे बार बार दिखाया था कि नारी अन्धगति से झूठे सुखों की खोज में बावली बनी दौड़ रही है और माया-मोह में अन्धी हो रही है। प्राचीन मान्यताएँ अब उसके लिए अर्थहीन हो गई हैं, नई मान्यताओं को आकार वह नहीं दे सकी है। घर के जीवन से उसे घृणा हो गई है और बाहर का जीवनयापन कर पाने की पूरी क्षमता नहीं। अधीनता उसे स्वीकार नहीं और स्वतन्त्रता का उपभोग कर पाने की सामर्थ्य नहीं। पुरुष का छल ऐसे ही संधिस्थल पर नारी को पराजित कर लेता है। वह ठोकर खाकर गिर पड़ती है और फिर उठ नहीं पाती। नरेश ने ऐसी स्त्रियों के जीवन से खिलवाड़ करने का अपना व्यवसाय बना लिया था। वह नारी को इसी रूप में देखता था और मानता था कि समय, सुविधा और प्रलोभन नारी को अन्ततः डिगा ही देंगे।

वन्दना के अपरूप रूप की बात वह सुन चुका था। शिवनाथ की वयजन्य उदासीनता और दीनता वह जानता था। कल रात उसके लिए साधारण सौ रुपयों की वह भेंट वन्दना की चिर-अतृप्ता, चिर-दिगंबरा, चिर-निरालंकारा नारी के लिये कितनी प्रतीक्षित हो उठी थी, कितने दिनों की प्यासी, लोलुप दृष्टि उसे निहार उठी थी, काँपते हाथों से, दुर्बल निषेध के साथ, पति से न कहने की बात का छल स्वीकार करके भी, वह डिबिया ग्रहण करते समय नारी के अन्तस की कौन सी साध, कौन-सी अनबुझी चाह मुखरा हो आई थी और उस क्षण असमर्थ, अक्षम और कदर्य पति के

प्रति कौन-सी वितृष्णा मन में जाग उठी थी, नरेश यह सब समझ सका था। अपनी विजय पर उसे आन्तरिक गर्व हो आया था—नरेश ने कभी मात नहीं खाई!.... किन्तु इस समय उसका विश्वास डिगता-सा लगा। वन्दना के स्वर में और बात कहने के ढंग में कहीं पराजय नहीं है। मर्यादा से वह डिगना नहीं चाहती!

नरेश उदास हो गया। अपमानित उसने अपने को नहीं समझा। अपमान से हतप्रभ ऐसे लोग नहीं होते। वन्दना चाय ले आई, छोटी-सी ट्रे में एक प्याला और केतली। चाय ढाल कर देती हुई बोली—यह सबेरे चाय नहीं पीते।

नरेश—और आप? प्याला तो एक ही है न!

वन्दना ने हँसकर कहा—हिन्दू स्त्री बिना नहाए-धोए यह सब नहीं करती।

बिलकुल अप्रत्याशित ही नरेश के मुँह से आदत के अनुसार निकल गया—लेकिन हमारे बम्बई में यह सब नहीं चलता भाभी।

सबको हँसी आ गई, नरेश चिढ़ सा गया। बोला—इसमें हँसने की कौन सी बात है, मैं नहीं समझा।

वन्दना ने मुक्त हास्य बिखेरते हुए कहा—बम्बई आपके प्राणों में बस गई है नरेश बाबू। आपकी बम्बई में....

नरेश ने हँसी का कारण समझते हुए कहा—हाँ, हमारी बम्बई में अतिथि को चाय चीनी डाल कर पिलाई जाती है भाभी!

वन्दना जल्दी में, सच ही चीनी डालना भूल गई थी। बोली—अरे, मैं भूल गई। अभी लाई।

नीचे आँगन में परबतिया ने कोई बर्तन गिराया और आह के स्वर शिवनाथ के कानों में आए। उन्होंने कहा—देखो बिन्दो, परबतिया ने कोई बर्तन शायद पाँव पर गिरा लिया। जल्दी देखो, चोट तो नहीं आई!

चीनी मैं ला देता हूँ।

वन्दना भागी हुई नीचे गई और शिवनाथ रसोई में। चीनी का डब्बा उठाते समय उनकी दृष्टि चूल्हे के पास रखी एक वेल्वेट की छोटी-सी डिबिया पर गई। यह क्या है? कुतूहलवश खोल कर देखा—हीरे की जगमग करती नाक की कील! क्षण भर को वह अभिभूत हो रहे, दृष्टि जैसे पाषाण हो गई, हाथ जैसे पक्षाघात-ग्रस्त रोगी के निर्जीव हाथ से अकंप-अचंचल हो रहे। हृदय में जैसे शक्ति-बाण बिंध गया, मस्तिष्क में ब्रह्मांड को क्षण मात्र में झकझोर डालने वाले झंझावात् का उन्मत्त-उग्र तांडव खेल गया! बिन्दो....अलंकारहीना, अभावग्रस्त नारी! नरेश ...समर्थ और सम्पन्न नर! प्यासी धरती, मेघपूरित आकाश! नंगी प्रकृति, भरा पुरा पुरुष! अभाव और आपूर्ति! बिन्दो के तुच्छ से, नगण्य-से दो चार आभूषण अपनी असमर्थता के भाड़ जैसे पेट में झोंक देनेवाला शिवनाथ और अँगूठी, सोने के बटन से युक्त हीरे की कील भेंट में देने वाला नरेश! यह क्या है? क्या हो रहा है यह सब? शान्ति और सौख्य के उस सदन में भावी के किस अमंगल अनिष्ट का यह आरम्भ है? शिवनाथ के बनावटी अभ्यस्त गांभीर्य ने उन्हें अधिक नहीं सोचने दिया।

वन्दना जब ऊपर आई तब नरेश चाय पी चुका था। वन्दना को देखकर प्रसन्न, बोला—शिवनाथ भाई जब तक चीनी लाएँ, मैं दो प्याला पी चुका था भाभी। सोचा, आज रशियन टी ही सही। मीठी न भी हो तब भी भाभी के हाथ की बनी है। लेकिन बम्बई में.....

बात काट कर सहज ही वन्दना ने कह दिया—मिठास की कमी शाम को पूरी कर दूँगी। हाँ, दोपहर को आप खायेंगे क्या?

नरेश ने इस प्रश्न को उड़ाते हुए कहा—मैं कहता हूँ, दोपहर को खाना जरूरी ही क्यों हो? हमारे बम्बई में तो...

वन्दना ने फिर बात काटी—मैं कितनी बार आपसे कह चुकी कि यह

बम्बई नहीं है, बनारस है। यहाँ तो लोग दोनों जून कस कर नाश्ता करते हैं, दो बार भरपेट भोजन करते हैं और शाम को दीन-दुनिया से बेफ़िक्र गंगा में नाव पर सैर करते हैं।

नरेश एकदम उत्साहित होकर बोला—क्या बात कही है भाभी, नाव पर सैर! क्यों शिवनाथ भाई, आज नाव पर ही चलने का प्रोग्राम रहे। हमारे बम्बई में तो. . . .

वन्दना ने वाक्य पूरा किया—गंगाजी हैं ही नहीं, क्या किया जाय! और खिलखिला कर हँस दी। उस दशन-द्युति-दामिनि पर शिवनाथ कभी मन ही मन अत्यधिक पुलक का अनुभव करते थे। उन्हें लगता जैसे बच्चे किलकारी भर रहे हों, निश्छल, अन्तस की एकान्त पवित्रता से ओत-प्रोत उन्मुक्त किलकारी! बहुत से पंछी दाना चुगने की बेला जैसे चहचहा रहे हों, शिवनाथ को वन्दना की यह अकलुष हँसी बहुत अच्छी लगती थी। वह एकदम उधर देखने लगते थे, किन्तु आज वन्दना की वह हँसी उन्हें अच्छी लगी या नहीं यह जानने का भी कोई साधन नहीं रहा। वह धरती की ओर देखते बैठे रहे। नरेश ने फिर कहा—तो आज नाव पर चलने का पक्का रहा, थोड़ी देर सैर रहेगी फिर उधर ही से किसी होटल में खाना खाते आएँगे। भाभी, आज शाम को चूल्हे में मूंड़ मारने से तुम्हें छुट्टी। है न शिवनाथ भाई?

वन्दना को यह सब नया-नया सा लग रहा था। उसकी वय-जन्य और रूप-जन्य स्वाभाविक चपलता को यह सब अच्छा लग रहा था। तीन वर्षों के विवाहित जीवन में उसे कभी उल्लास के ऐसे निश्चिंत क्षण व्यतीत करने के साधन और सुयोग नहीं आए थे। नारी-सुलभ, यौवन-सुलभ वाचालता और कामना घुट कर मर गई थी। आज जैसे बहुत दिनों की ध्वस्त और दबी-ढँकी क़ब्र खोदकर उसका कंकाल बाहर निकाला जा रहा हो ताकि उसका श्रृंगार किया जाय। जैसे किसी ने चिता पर से उसका

शव उतार लिया हो, उसकी अर्थी पर से कफ़न खींच कर तार-तार फाड़ दिया हो। उसके बुझे हुए मन पर से किसी ने पुंजीभूत राख का ढेर हटाकर उसे गुदगुदा दिया हो। शिवनाथ के उत्तर देने के पहिले ही वह बोल उठी—ठीक तो है, इनका भी मन बहल जायगा। हम चलेंगे।

शिवनाथ का मौन उसे अखर रहा था। उसने उनकी ओर देखा। मुख पर जैसे आषाढ़ के मेघ, काले-कजरारे मेघ घिरे हों, एकदम पूछ उठी, शंकित-सी-क्या बात है? इतने चुप क्यों हो?

शिवनाथ ने नरेश की ओर देख कर मुख पर तनाव लाते हुए किन्तु अनजान सा कहा—मैं मज़दूर हूँ नरेश! दिन भर ख़ून पसीना बहा कर मेहनत करता हूँ तब कहीं तीस रुपए महीने में घर लाता हूँ। किसी तरह यह देह चल रही है। बिन्दो को लेकर नाव पर सैर कर सकूँ या होटल में खाना खा सकूँ, यह मेरे लिये सपना है। किसी दूसरे की दया पर एक दिन यह सब कर लूँ तो उससे मेरे मन को चोट लगेगी। फिर, हाड़तोड़ मेहनत के बाद अंग-अंग टूटने लगते हैं, कहीं आने-जाने की इच्छा नहीं होती। मुझे क्षमा करना होगा, मैं नहीं चल सकूंगा।...स्पष्ट कुछ न कह कर भी वन्दना को प्रतिहिंसा में चोट पहुँचा कर वह प्रसन्न हुए।

किन्तु दूसरी ओर वन्दना लाज से मर गई। कितने विश्वास के साथ उसने कह दिया था—हम चलेंगे! इस अपरिचित-अनजान अतिथि के सामने उसका गर्व चूर्ण हो गया! एक छोटी-सी बात, एक छोटी-सी चाह, एक छोटी-सी साध भी यह उसकी नहीं रख सकते थे? अनिच्छा से भी क्या उसकी एक छोटी सी इच्छा वह पूरी नहीं होने दे सकते थे? स्वयं तो कभी उसके मन में दुबकी युवती को हँसा नहीं सके, सदा अपनी आवश्यकताओं और अभावों को आँचल में समेटे वह सूने में बिसूरती रही और इनकी प्रत्येक इच्छा-अनिच्छा और मन-विमन का मान रखती रही। क्या उसका मान एक क्षण के लिये भी नहीं रख सकते थे? वह क्या

इतनी अपमानिता है कि परपुरुष के सामने भी उसका सम्मान लूटना इनके लिये खेल है? क्या सोचा होगा इस नरेश ने। मुझे कितनी परवश और दयनीय समझा होगा! शायद तभी इसने रात को कहा था कि मैं इनसे न कहूँ। यह मुझे कभी वह कील लेने न देते! मेरा तो जो होता वह होता ही, इस बिचारे का कितना अपमान यह न कर डालते!

रुआंसी हो गई वह, साथ ही उसे एकदम कील वाली डिबिया का ध्यान आया। चाय बनाते समय रसोई में ही रख दिया था, कहीं परबतिया ने तो नहीं उठाया! आँखों में आँसुओं के साथ भय और दुश्चिंता भी झलक उठी। उसकी इच्छा हुई कि झपट कर जाकर उठा लाए और अपना और इस नरेश का गहन अपमान बचाने के लिये कहीं छिपा कर रख दे। कहीं, जहाँ इनकी दृष्टि न पड़े किन्तु तभी बोल पड़ा नरेश—इसमें मज़दूर और मालिक की क्या बात थी शिवनाथ भाई, मैंने तो यों ही कहा था। न चलना चाहो, न चलो। अच्छा भाभी, दोपहर को मैं खाऊँगा नहीं और रात को बाहर से ही खाकर लौटूंगा। तुम चिन्ता न करना। मैं अब बाहर जा रहा हूँ।... अतिथि को अतिथि ही बना रहना चाहिए न! इससे अधिक कुछ नहीं।

नरेश उठकर कमरे के बाहर चला गया और नीचे उतर गया। वन्दना की तिरस्कृता नारी की इच्छा हुई, चिल्ला कर कहे—नरेश, मेरे कारण तुम दुखी मत हो। तुम जल्दी लौट आना, यह नहीं चलेंगे तो मैं तुम्हारे साथ चलूंगी। हाँ, मैं चलूंगी, अकेली!... किन्तु परम्परा के संस्कार ने उसका मुंह बन्द ही रखा। मीराँ को दिए हुए विष की भाँति वह अपने इस खंडित गर्व का हलाहल चुपचाप कन्ठ के नीचे उतार गई, युगों की अभ्यस्ता, अभिशप्ता नारी की भाँति! राणा का अहम् जीत गया, मीराँ का चूड़िलो और शीशफूल अपनी गरिमा का अधिकार नहीं पा सका!

कमरे में सब कुछ जैसे धुआँ-धुआँ हो रहा था। वातावरण में जैसे एक अनबूझ तनाव आ गया था। शिवनाथ खूंटी पर से कुर्ता उतार कर पहनने लगे। वन्दना से नहीं रहा गया, पूछा—कहाँ जा रहे हो?

शिवनाथ—आज अब कुछ बनने का समय तो रहा नहीं, प्रेस के लिये देर हो रही है।

वन्दना—लेकिन प्रेस तुम्हें अब नहीं जाना होगा, जब तक एकदम अच्छे न हो लो।

शिवनाथ आशंका से भर उठे। कहीं लालाजी ने नौकरी समाप्त तो नहीं कर दी। गम्भीर स्वर में कहा—लेकिन अच्छे होने की राह देखूं तो काम कैसे चलेगा? खाना पीना कैसे चलेगा?

वन्दना आश्वस्त बोली—चलेगा। उसका प्रबन्ध हो गया है। कुर्ता उतार डालो।

शिवनाथ जैसे कैलाश की चोटी से गिरे। आज क्या सृष्टि उलट पुलट जायगी भगवान! वन्दना इतनी मुखर, इतनी वाचाल और इतनी आत्म-निर्भरा कैसे हो रही है? उनकी अकर्मण्यता प्रसन्न तो हुई किन्तु बिना नौकरी किए काम चलेगा—यह वह क्या सुन रहे हैं? हीरे की कील से ही क्या इस प्रबन्ध का भी कुछ सम्बन्ध है? अनायास उनके हाथ बनियान की जेब में पड़ी डिबिया पर गए और आशंकित कहा—प्रबन्ध हो गया है? क्या प्रबन्ध हो गया है बिन्दो? नौकरी नहीं करूँगा तो रुपए कहाँ से आएँगे? कहती क्या हो?

रुपए तो लालाजी के यहाँ से ही आएँगे—कह कर वह उठी और कुर्ता लेकर खूंटी पर टांग दिया। आत्म-विश्वास के गौरव से वह एक बार फिर भर उठी। उसके स्वर और चलने के ढंग से एक परितृप्ति का निर्झर झर रहा था। एक विचित्र मुदिता पल भर में उसकी दृष्टि में कौंध गई और क्षण भर पहले का परपुरुष के सामने पति द्वारा घटित

६

अपमान, कल के अपने बल पर प्राप्त स्वामी-सेवा के अवसर की बात याद कर, न जाने कहाँ तिरोहित हो गया। भूल गई वह हीरे की कील, भूल गई नाव और होटल और नरेश! इस समय उसे केवल स्मरण रहा व्यथा-क्लान्त, रोग-जर्जर पति का लाचार देह लेकर चाकरी पर जाने का कारुण्य और अपनी विवशता और रूपजीवी तुच्छ नैना का महान दान!

मुग्धा-मयूरी की भाँति शिवनाथ के पास बैठते हुए उसने पूछा—कल रात मैं इतनी देर में बाहर से आई। तुमने क्या सोचा?

शिवनाथ को आश्चर्य पर आश्चर्य हो रहा था, वह चुप ही रहे।

वन्दना ने उनके घुटने हिलाते हुए कहा—बोलो न, तुमने क्या समझा?

शिवनाथ ने अविचलित उत्तर दिया—ऐसी बातों पर सोच-समझ कर समय नष्ट करते कभी तुमने देखा है बिन्दो?

वन्दना—मैं तुम्हारी स्त्री हूँ। तुमसे बिना पूछे घर से इतनी रात तक बाहर रही, यह भी क्या सोचने की बात नहीं है? क्या तुम मनुष्य नहीं हो?

शिवनाथ का किताबी ज्ञान बोला—शायद नहीं हूँ। व्यर्थ का कुतूहल मुझे नहीं होता।

वन्दना—मेरे विषय में भी नहीं?

शिवनाथ ने मर्म भरे शब्दों में कहा—नहीं। किसी के विषय में नहीं। सच को ही नंगी आँखों से देखता हूँ और मानता हूँ।

वन्दना के मन पर फिर आघात लगा, उसके प्रति इतनी उदासीनता? जो व्यवहार यह सबके साथ कर सकते हैं, वन्दना को भी उतने की ही आशा इनसे करनी चाहिए? वह तो तीन वर्षों से इन्हें देख रही है, इनकी कथनी और करनी में कहीं कोई अन्तर नहीं आया!

शिवनाथ ने फिर कहा—बिन्दो, प्रेस के लिए बहुत देर हो रही है।

वन्दना ने धीरे-धीरे, सविस्तार, अपने नारीत्व और सतीत्व के पराजय की वह कहानी, जो इस सामने बैठे चिर-रुग्ण, चिर-कातर पति की एकान्त मंगलेच्छा के कारण घटित हुई थी, सुना दी। कहते-कहते उसका कंठावरोध हो गया, आँखों से अविरल अश्रु बह चले और शब्दों में ऐसी पवित्र झनकार बज उठी जो उसके अपने कानों में भी व्यथा से मधुर लगी। शिवनाथ आश्चर्यचकित बैठे सुन रहे थे सती का वह अदम्य भाववर्णन! हीरे की कील, परपुरुष द्वारा सतवन्ती नारी को प्रदान किया हुआ स्नेह-दान इस समय एक क्षण के लिये, सच ही, उन्हें अत्यन्त तुच्छ लगा।

किन्तु पल भर ही वह अभिभूत रहे। अपनी दीनता को यह चुनौती स्वीकार कर लेने का बल वह नहीं दे सके। निर्बल व्यक्ति के निष्फल अहम् ने उनके मन में सिर उठाया। दुर्बल परुषता के व्यामोह ने फिर नारीत्व की गरिमा से ऊपर उठने का प्रयास किया, बोले—यह तुमने अच्छा नहीं किया बिन्दो! यह मेरा अपमान है, लालाजी के सामने अब मैं मुँह नहीं उठा सकता। उनके फेंके हुए टुकड़ों पर मैं जीवित रहूँ, यह नहीं हो सकता। आखिर, तुमसे वहाँ जाने के लिये कहा किसने था?

शिवनाथ के स्वर की तीव्रता ने वन्दना को आमूलचूल उद्वेलित कर दिया। उसकी निष्ठा का संयमित दुर्ग इस एक ही ठोकर से ढह गया। उसकी इच्छा हुई, उनसे भी तीव्र, उनसे भी उग्र स्वर में चीख कर कह दे—कहा तुम्हारी मरी देह ने, कहा तुम्हारी ढलती उम्र ने, कहा तुम्हारे फटे और मैले वस्त्रों ने, कहा बिन्दो के उजड़ते वीरान जीवन ने, कहा उसके बुझे हुए सुहाग ने, कहा उसकी माँग में दले हुए सिन्दूर ने—किन्तु फिर भी स्वर अधरों के कगारों तक आकर लौट गए, शब्द घुट कर मर गए। अपनी दयनीयता से वह स्वयं ही दीन हो गई, आत्म-ग्लानि में स्वयं ही गल-गल कर पानी होने लगी। यह आक्रोश और मिथ्या अभिमान उस व्यक्ति का है जिसके लिए उसने अपने सर्वस्व की

जलांजलि दे दी। न दिन को दिन समझा न रात को रात। जिसकी अनाकर्षक अधीनता में, जिसकी सेवार्चा में अपने यौवन के समस्त पूजा के फूल निवेदित कर दिए। जिसकी रोगी देह की विश्रान्ति के लिए उसने अपने नारीत्व का अपमान सहा, जिसके लिए कुलटा कही जाने वाली नारी के आगे महासती का भीख के लिए आंचल फैला। वन्दना के आँसुओं से खेलकर भी वह आज उसका ही उपहास कर रहे हैं। इन्हीं ने तो कल कहा था कि वन्दना के ही लिए इन्हें असमर्थ होने पर भी काम पर जाना पड़ रहा है। और जब वन्दना ने यह लांछन उतार फेंकने का आयोजन किया तब यह अपने मिथ्या अहम् से उसे छिन्न-भिन्न कर देना चाहते हैं।

शिवनाथ का तीव्र स्वर संयम की धूल झाड़कर फिर गूंजा—किसने तुमको नैना के पास जाने को कहा था, बोलो? अब मैं इतना पतित हो गया हूँ कि उस जैसी नारी के दान पर जियूंगा? वह कैसी स्त्री है, यह तुम्हें मालूम नहीं है?

वन्दना में न जाने कहाँ का साहस इस समय भर गया था। सम्भवत: निष्कलुष हृदय की पवित्रता निरन्तर के आघातों से संयम खो चुकी थी। नैना का निःस्वार्थ दान भी वह भूल नहीं पाई थी। दृढ़ विश्वास-दीप्त स्वर में बोली—मैं जानती हूँ। यह भी जानती हूँ कि नारी के दान को हाथ बढ़ाकर ग्रहण करने की क्षमता तुम्हारे पास नहीं है। तुम पुरुष भी नहीं हो!

शिवनाथ का गांभीर्य का आवरण स्थिर नहीं रह सका, अकल्पित रूप से चिल्ला पड़े—बिन्दो!

वन्दना के नेत्रों से गंगा-यमुना बह चलीं। सावन-भादों उसके मुख पर घिर आए। घुटते हुए कंठ से स्वर निकले—हाँ। तुम पुरुष भी नहीं हो। विवाह के समय जिस सत्य ने झूठ बन तुम्हें सहारा दिया उससे तुम

आज तक छुटकारा नहीं पा सके। नारी का सुहाग तुम्हारे लिये सेवा-पूजा पाने का साधन रहा। पिंजरे में बन्द करके पंछी को जैसे तैसे चारा चुगा कर तुम उसकी चहचहाहट सुनना चाहते थे। तुम्हारी अक्षमता और दीनता के द्वार पर किसी की साधें दम घुट-घुट कर मरती रहीं और तुम द्वार खोलकर देख भी नहीं सके। देखते भी क्या, देखना भी तो तुम्हारे बस की बात नहीं थी! .....पुरुष हो तो हाथ उठाकर दण्ड भी तो दे सकते हो! मन तो मार ही डाला है, तन को भी एकबारगी ही समाप्त कर दो। तुम्हारे लिए जो सिर नैना के आगे नवाया था उसे काट कर अलग भी तो कर सकते हो! तो, दे लो दण्ड!

वह फफक कर रो दी! कितनें दिनों की पुंजीभूत अतिवृष्टि! किन्तु शिवनाथ इस समय चोट खाए अहम् से पशु हो उठे थे, जेब से डिबिया निकाल कर बोले—और यह? यह भी मेरे ही लिए है? रुपए के लिए तो नैना के आगे आँचल फैलाया, इसके लिए किसके आगे... बोलो, इसके लिए क्या बलिदान करना पड़ा?

वन्दना ने जल्दी से रोती हुई आँखें ऊपर उठाईं और शिवनाथ के हाथों में डिबिया देखकर उस पर जैसे वज्र गिर पड़ा। पल भर पहले की उसकी गर्वोक्ति का निष्ठा भरा इतिहास मुहूर्त मात्र में उस डिबिया में बन्द हो गया। उत्तर देकर वह अपना विश्वास नहीं जमा सकती, जिस परिस्थिति और जिस वातावरण में यह प्रश्न अप्रत्याशित रूप में शिवनाथ के कंठ से फूटा है उसने वन्दना को ही अपराधी सिद्ध किया है। शिवनाथ के स्वर में जो प्रच्छन्न लांछन था—इसके लिये क्या बलिदान करना पड़ा—उसके निराकरण का इस समय उसके पास क्या साधन था? क्षण भर में ही जिस अविश्वास की सृष्टि वहाँ हो गई और एक सम्पूर्ण मिथ्या ने जो अमिट कालिमा उसके युगान्त संचित सती धर्म के मुँह पर मल दी उससे वह त्रस्त और शंकित हो उठी। निरुत्तर ही रही। शिवनाथ ने पुनः

कुर्ता उतार कर पहनते हुए आदिम पुरुष-सा कहा—अपने को भुलावे में रखना अच्छा नहीं होता। नैना के पास मेरे लिये जाने के बहाने तुमने अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध किया था। मुझे नहीं चाहिए उसकी दया, किसी का एहसान उठाने को मैं नहीं तयार हूँ। नाव और होटल और हीरे की कील के पीछे स्त्री का कौन-सा रूप झाँक रहा है, यह मैं समझ रहा हूँ।

शिवनाथ के जाने के बाद वन्दना उसी स्थल पर पड़ी बिसूरती रही। उसके निर्दोष, अकपट, अमल-धवल नारीत्व पर आज अनायास कितना बड़ा लांछन लग गया! उसे अपनी स्थिति सुलझाने का सुयोग भी नहीं मिला। नर के चिरन्तन प्रभुत्व की भावना ने उसे अकारण ही अपराधिनी मान लिया। उसके चरित्र को यह कितनी बड़ी चुनौती थी! निर्दोषी का इतना बड़ा दण्डभोग किसके भाग्य में घटित हुआ होगा? प्रतिवाद भी तो वह नहीं कर सकती, मुँह खोल कर अस्वीकार भी तो नहीं कर सकती! कैसी वह कुघड़ी थी जब नरेश की यह भेंट उसने स्वीकार कर ली!... किन्तु इससे कौन सा प्रलय आ गया? उसे अपने निषेध पर नरेश के मुख पर घिर आई उदासी स्मरण आई... क्या अपराध है इसमें?

दिन भर वह उठी नहीं। गली के बढ़ते आते अन्धकार ने उसे संझ-वाती करने का बल भी नहीं दिया। तभी आया नरेश, आते ही बोला—मैं चला आया भाभी। सोचा, शायद तुम लोगों ने नाव पर चलने का तय कर लिया हो! अभी शिवनाथ भाई नहीं आए?

वन्दना ने आँसू पोछ डाले, उसकी बात का उत्तर न देते हुए कहा—कल आप कह रहे थे, फ़िल्म कम्पनी में आप एक ....एक्स.....

नरेश—हाँ हाँ, एक्स्ट्रा ....

वन्दना—वही। क्या मुझे भी वह काम ....?

नरेश कुछ समझा नहीं, प्रसन्न होकर बोला—तुम्हें? क्या बात कहती हो भाभी! तुम्हें तो एकदम हीरोइन...पहली ही पिक्चर में हिट!

हमारी बम्बई में तुम्हारे जैसी औरतें हैं कहाँ ? बिलकुल हीरोइन जैसी ! नरगिस तुम्हारे यहाँ पानी भरे, सुरैया के हाथों के तोते फुर-से उड़ जायँ, मीनाकुमारी मिमियाती रह जाय....

फिर अपनी अनर्गलता पर स्वयं ही उसे बाँध लगाना पड़ा। वन्दना जैसे वहाँ थी ही नहीं। धीरे से पूछा—लेकिन भाभी, बात क्या है ?

वन्दना को होश आया। दूसरी ओर देखती हुई कठोरता से बोली—बात क्या होगी ? कुछ पूछना भी अपराध है क्या ? ठहरिए, आपको चाय बना लाती हूँ।

वह उठ कर चली गई। नरेश विमूढ़ सा बैठा रहा—अपनी विजय से विजित !

सात

खट. . . . खट. . .

वन्दना ने द्वार खोल दिया। शिवनाथ ने देखा, कहीं कोई व्यतिक्रम नहीं है। आकाश पर जैसे मेघ छाए ही नहीं। आत्मलीन मन ने यह नहीं समझा कि आँधी आने के पहले आकाश शांत-स्थिर हो जाता है।

घाव पर मरहम लगाने की चेष्टा में भोजन करते समय उसने कहा—नरेश आज खाना खाकर देर में आएगा, यह अच्छा ही हुआ। मैं सोचता आ रहा हूँ कि तुमसे बहुत-सी बातें करनी हैं। पहली बात तो यह कि मुझे क्षमा कर दो। सबेरे मैं पशु बन गया था।

वन्दना ने आँख उठाकर उनकी ओर देखा किन्तु अधिक देर तक लोभ से, मोह से उस मुख पर आँखें जमाए न रह सकी। लोभ और मोह के स्थान पर उसकी दृष्टि में घृणा और उदासीनता झलक रही थी। 'क्षमा' शब्द ने उसे और झिझोड़ डाला। उसने कहना चाहा कि बार-बार दुहरा कर इस शब्द को कलंकित न करो। सृष्टि के आदि से नारी यही सुनती आई है। भोजन की व्यवस्था और शरीर-सुख के प्रबन्ध के आयोजन के लिए यही शब्द दुहराकर तुम लोग हमें छलते आए हो किन्तु छल एक दिन मुँह उघार कर सामने खड़ा हो जाता है। जाने दो, तुम इस शब्द के योग्य

भी नहीं हो ! क्षमा माँग कर क्या करोगे, कुछ नया तुमने किया है क्या ? नारी के चरित्र पर लांछन लगाने का व्यवसाय तुम्हारा—तुम्हारी जाति का—नया नहीं है। दुनिया तुम लोगों की है, नारी तो केवल खिलौना है। तुम्हें स्त्री चाहिए—पत्नी और प्रेयसी भी, वेश्या भी तुम्हारे बनाए समाज में पलती हैं—किन्तु तुम्हारे दोमुंहें स्वभाव ने पशु को नर का, वल्कि नारायण का रूप देकर, अपराधों की भारी गठरी स्त्री के द्वार पर धर दी है। पत्नी हो या वेश्या, दोनों को रंगीन इन्द्रधनुषी भुलावों में डाल कर तुमने अपना काम निकाला है और दोनों ही ने तुम्हारे अन्याय-अत्याचारों को, तुम्हारे निर्मम प्रहारों को चुपचाप सहा है। ....पर इस प्रसंग को इस समय न उभार कर उसने शान्त भाव से पूछा—साग दूं ?

शिवनाथ—साग की बात नहीं है बिन्दो! नरेश आ जायगा तो मैं बात नहीं कर सकूंगा। तुमने क्षमा कर दिया या नहीं, पहले यह बताओ।

वन्दना ने बर्तन समेटते हुए कहा—रात बहुत हो गई है। खा-पीकर छुट्टी करो। नरेश बाबू खाना खाकर ऊपर चले गए हैं।

मुहूर्त्त मात्र में शिवनाथ के मुख का कृत्रिम करुण भाव फिर कठिन हो आया। सबेरे नाव पर जाने की बात को जब उन्होंने अस्वीकार कर दिया था और नरेश रात को देर में लौटने की बात कह कर चला गया था तब उन्होंने निष्पत्ति की सांस ली थी। एक दिन निर्द्वन्द बीत जाने का आनन्द दिन भर उनके मन में भरमता रहा था और उनके दुर्बल, शंकित चित्त के प्रभुत्व की भावना को किंचित् विश्राम मिला था। वह जल्दी लौट कर वन्दना से बात करना चाहते थे, हीरे की कील के पीछे छिपे रहस्य को जानना चाहते थे। एक लम्बी अवधि के बाद जीवन में किसी स्त्री ने व्यवस्था और सुख का जो मोहक वातावरण संजोया था उसे वह अपने सामर्थ्य भर किसी भी दामों छोड़ने को प्रस्तुत नहीं थे। वह पुरुष थे, निरन्तर के अभाव-आवश्यकताओं ने उदासीनता और गम्भीरता को

उनकी आड़ बना दिया था किन्तु मूल में वह ईर्ष्या और द्वेष से उन्मुक्त नहीं थे। अक्षमता उन्हें प्रतिहिंसा से रोक सकती थी किन्तु हृदय को चिरन्तन साँचे में ढलने से वह कैसे रोक देते? वन्दना के मुँह से यह सुनकर कि नरेश ने यहीं खाना खाया है और घर में ही इस समय, शान्ति के साथ ऊपर सो रहा है, उनके मन में नए सन्देहों का जो आल-जाल विस्तार पाने लगा उससे वह विचलित हो उठे। देर में लौटने को कह कर भी वह जल्दी क्यों लौट आया, केवल बिन्दो के लोभ से ही तो? मेरी अनुपस्थिति ने उसे अवसर दिया होगा. . . न जाने किस मोहिनी का ताना-बाना उसने बिन्दो के चारों ओर बुना होगा? उन्हें अपनी क्षीण काया और उससे भी क्षीण क्षमता पर इस समय भारी ग्लानि हुई। पुरुष का अहम् फिर चोट खा चुका था, पूछा—नरेश ऊपर सो रहा है? वह तो बाहर से ही खाकर आने वाला था न? फिर, जल्दी क्यों चला आया?

स्वर की रुक्षता पर वन्दना डोल गई, इधर घूम कर उत्तर दिया—मैंने पूछा नहीं। तुम्हारे मित्र हैं, तुम पूछ सकते हो। मैंने उन्हें निमंत्रण नहीं दिया था।

शंकालु शिवनाथ भी चुप नहीं रह सके—हाँ, तुम क्यों पूछोगी? उसके हाथ की अँगूठी और सोने के बटनों ने तुम्हारा मुँह बन्दकर दिया है। गले की चेन ने तुम्हारे मन को लपेट लिया है। हीरे की कील जो प्रेम की भेंट दे सकता है उसे मुँह से कुछ कह कर निमंत्रण तुम क्यों दोगी? उसे निमंत्रण दिया है तुम्हारे सौन्दर्य ने, तुम्हारे यौवन ने, तुम्हारी खिलखिल हँसी ने। मेरी ग़रीबी तुम्हें छीनकर उसकी अमीरी के हाथ बेच देगी, मेरा बुढ़ापा तुम्हें उसके. . . .

वन्दना चीख पड़ी—चुप रहो—और उसके अश्रुसागर का बाँध टूट गया। उसके आत्मा की पवित्रता चोट खाई नागिन की भाँति फूत्कार कर उठी और अपनी विवशता में स्वयं ही वह दंशन उसे झेलना पड़ा।

यह वह क्या सुन रही है, किससे सुन रही है, क्यों सुन रही है भगवान ? इसलिए कि वह नारी है ? इसलिये कि वह परवश है, अपनी आवश्यकताओं के लिए उसे दूसरों का मुँह जोहना है ? इसलिये कि वह बिकी हुई है, उसके सुहाग ने चिरन्तन दासत्व का मोल चुकाया है ? इसलिये कि वह अबला है और थप्पड़ मार कर यह औद्धत्य बन्द नहीं कर सकती ? उसके आँसुओं में युग-युग की प्रताड़िता नारी गल-गल कर बहने लगी और वह वहीं धरती पर लोट गई—लोट गई और उसका पद्दलित, खंडित और ध्वस्त नारीत्व पुरुष के अहम्, गर्व और मिथ्या अभिमान के चरणों पर सिर धुन-धुन कर मरने लगा।

वन्दना के दृढ़, तीव्र स्वर ने क्षण भर के लिये शिवनाथ को चुप रहने को बाध्य किया किन्तु दूसरे ही क्षण उनके संशयालु स्वर वन्दना को फिर सुन पड़े—कल कमरे में बिठाते समय तुम्हारा हाथ पकड़ कर बिठाने की उसे क्या आवश्यकता थी, पाजामे पर गिरी हुई चाय झाड़ते समय... बिन्दो, शरीर से लाचार हो गया हूँ किन्तु भगवान ने आँखें अभी ठीक रक्खी हैं। बोलता नहीं, इसके यह अर्थ नहीं कि कुछ देखता-सुनता नहीं। नाव पर चलने और होटल में खाना खाने की बात पर तुम्हारी प्रसन्नता मैंने नहीं देखी थी ? यह सब क्या है ? फिर भी कहती हो, मैंने निमंत्रण नहीं दिया ?

किन्तु कुछ उत्तर देने के लिये वन्दना वहाँ थी कहाँ ? रोते रोते निढाल होकर वह मूर्छित हो गयी थी। आघात उससे सहन नहीं हो सका। अपराध करके दण्ड पाने में एक सन्तोष है। निरपराध का दण्ड असहनीय होता है। अपराधी होती वन्दना, सचमुच ही उसने अपने मन के आगे कोई अपराध किया होता तो चेष्टा करने पर भी उसकी आँखों से आँसुओं का वह सागर न फूट पड़ता जो इस समय समूची सृष्टि को अपने में समेट पाने में समर्थ हो सका है ! जिसके भयंकर ज्वार भरे तटों पर खड़ी

होकर विश्व की सब पवित्रता, पावनता और निष्ठाएँ हाथ उठाकर उसके लिए मंगल-आशीषों की निधियाँ लुटा रही हैं! शिवनाथ ने उत्तर न पाकर फिर कहा—बोलो, उसके आने का रहस्य क्या अब भी अज्ञात है?

फिर उत्तर नहीं मिला। शिवनाथ को शंका हुई, झुककर देखा—आपाद-मस्तक केशराशि ने बढ़कर चन्द्र-मुख को ढांक लिया था। निर्जीव-सी वह सुन्दर देहयष्टि धरती पर अवश पड़ी हुई थी। आँसुओं से आँचल और आस पास की पृथिवी भीग गई थी। उन्होंने धीरे से बाल हटाए, कारे-कजरारे मेघों से पूनम का चाँद बाहर निकल आया। चाँदनी की शीतलता जैसे चारों ओर बिखर गई। कहाँ है, कहाँ है इस निर्मल आनन पर वह कलंक-कालिमा जिसकी आशंका से वह अपने को त्रस्त और भयभीत पा रहे हैं। आँखों से बही हुई इस गंगा-यमुना में कलुष का कर्दम कहाँ है? हृदय के इस महातीर्थ पर पाप की छाया कहाँ पड़ रही है? उन्हें धरती पर पड़ी हुई वह वन्दना की विवश देह छूने में भी जैसे डर लगा—स्पर्श से उनके हाथ न झुलस जायँ!

उस रात भर नींद कोई सो नहीं सका। मूर्च्छा से उठने पर वन्दना किसी निश्चय पर पहुँचना चाहने लगी, शिवनाथ मानसिक उद्वेलन में व्यस्त थे, निश्चिंत था केवल नरेश। किन्तु नींद उसे भी नहीं आई। वन्दना के आज के प्रश्न ने उसके सामने नई सम्भावनाओं का द्वार खोल दिया था। एक दिन में ही इतनी सफलता की आशा उसे नहीं थी। प्रलोभनों पर नारी को लुटते उसने देखा था, यही उसका व्यवसाय था किन्तु वन्दना के अपरूप रूप की प्रशंसा के साथ ही साथ पत्थर के बेडौल शिव की एकान्त सेवा-भक्ति की बात भी उसने सुनी थी। तभी, उसने यह जानने की चेष्टा की थी कि इस प्रश्न के पीछे गंभीरता है या केवल सहज उत्सुकता। किन्तु स्वर की जिस उग्रता में वन्दना ने उसे उत्तर दिया था और उठकर चाय लाने के बहाने

चली गई थी, उसने उसका कुतूहल उभरने नहीं दिया। जो कुछ भी हो, वह तो यह भी नहीं जान पाया कि उसको लेकर इस घर के शान्त सन्तुष्ट जीवन में कितना बड़ा ऊहापोह मच गया। अपने अभाव और दैन्य में अचंचल दो प्राणी झंझावात् के एक ही झोंके में कहाँ से कहाँ उड़ गए। वह निश्चिंत था, इतना विश्वास उसे था कि वन्दना के दुःख-दैन्य-अभाव से चिरन्तन दबे बुझे मन में उसने बाहर के वातावरण के प्रति एक सहज कुतूहल, एक सहज जिज्ञासा जगा दिया है। उसकी अनबुझी प्यास पंख झाड़कर खड़ी हो गई है। परिणाम क्या होगा, यह वह नहीं जानता। जानने की उसे आवश्यकता भी नहीं है। नारी की दुर्बलताओं का व्यवसाय वह करता है, उचित-अनुचित की तुला पर उसकी दूकान पर माल नहीं तुलता।

और शिवनाथ? आदिम प्रवृत्ति स्वार्थ पर एक ही आघात से धूल झाड़कर खड़ी हो गई है। गंभीरता और उदारता का स्वाँग केवल स्वाँग रह गया। मन के अन्तराल में, हृदय के गहन अँधेरे में सभ्यता और सौजन्य की खाल ओढ़े जो पशुवृत्ति सोई पड़ी थीं, अवसर और सुयोग पाकर वह उठ बैठी है। नर इससे छुटाकारा नहीं पा सकता—वह प्रवृत्ति का दास है, नियामक नहीं।

नरेश की सहज बुद्धि ने उसे समझाया कि इस समय वहाँ से हट जाना ही श्रेयस्कर है। यहाँ रहकर वह भावी योजनाओं का अनिष्ट ही कर सकता है। वह किसी से बिना कुछ कहे बाहर चला गया। वन्दना भोजन की व्यवस्था कर रही थी। बिलकुल शान्त, निरुद्वेग चित्त से वह काम में लगी हुई थी जैसे अब उसके समस्त अनुयोग-अभियोग समाप्त हो गए हों। उसे अब किसी से कोई शिकायत न हो। जैसे उसने परिस्थितियों से हार मानकर भाग्य के सामने अपनी सम्पूर्ण पराजय स्वीकार कर ली हो या फिर, किसी ऐसे मंज़िल पर पहुँच गई हो जहाँ से पीछे मुड़कर वह अपना बीहड़ यात्रा-पथ नहीं देखना चाहती। वह मंज़िल उसके लिए सुखद होगी या

दुखद, शुभ होगी या अशुभ, वह नहीं सोचना चाहती। हिंस्र पशु वहाँ भी उसे शान्ति न पाने देंगे, वहाँ भी उसे अपनी अनबुझी प्यास बुझाने के लिए एक बूंद जल न मिलेगा और वह बावली-सी एक मरीचिका में भटकती रहेगी, यह सब वह समझने की स्थिति में नहीं है। अतीत और वर्तमान ही उसके लिए भारी हो उठे हैं, आगत का वह स्वागत करेगी फिर वह कैसा भी भयंकर हो, अनिश्चित हो।

शिवनाथ पास आए, कहा—कल रात में पूरी बात कर नहीं सका। उस समय अगर....

वन्दना इसके लिये जैसे प्रस्तुत हो, शान्त भाव से कहा—बात की आवश्यकता क्या है?

शिवनाथ—अब तुम मुझसे बात भी नहीं करना चाहतीं?

वन्दना ने उसी दृढ़ स्वर में उत्तर दिया—तीन वर्षों से तुम्हारी बात ही तो सुन रही हूँ? अब भी वह पूरी नहीं हुई? अब न भी सूनूं तो कोई हर्ज न होगा।

शिवनाथ के मुँह से केवल इतना ही निकला—बिन्दो! यह तुम कह रही हो?

वन्दना बोली—हाँ। आश्चर्य होता है? अब तक अपनी ही बात सुनाते आए हो, मैं भी कभी कुछ कह सकती हूँ यह तुम्हें अटपटा लगता है। मेरे सारे गहने तुम्हारी असमर्थता की भेंट चढ़ गए, एक छल्ला भी शरीर पर न बचा, कभी तुमने जानना चाहा कि मेरे मन पर क्या बीत रही है? इतने-इतने दिनों रोगी बन कर पड़े रहे, सगे सम्बन्धियों ने मुँह फेर लिया, एक पाई भी किसी ने नहीं दी, तुम समझते थे कि हवा पीकर जी रहे हो? तुम्हारे पथ्य का दाम कहाँ से आया, दवाइयों का कैसे प्रबन्ध हुआ, मैं क्या खाकर जीवित रही, यह सब भी कभी सोचा था? आज जब किसी तरह उठाकर खड़ा कर दिया है तब

तुम्हारा मिथ्या गर्व जागा है। लाल आँखें कर मुझसे मेरी निष्ठा और सेवा का बदला चुकाना चाहते हो? बोलो, वह दिन क्या भूल गए?

शिवनाथ वन्दना के इस रूप की कल्पना नहीं कर सकते थे, कहा— वह मेरी लाचारी थी बिन्दो!

वन्दना—और यह मेरी लाचारी है। तुम्हारी लाचारी ही सब कुछ है, मेरी लाचारी कुछ नहीं? मेरे पास भी दो आँखें हैं, मेरे पास भी मन है, मेरे पास भी जली भुनी देह है। वह आँखें भी कुछ देखती हैं, वह मन भी कुछ माँगता है, वह देह भी कुछ चाहती है। तुम्हारी भूख शान्त हो जाने से ही तो मेरी भूख मर नहीं जाती? अब मुझसे यह सब ढोया नहीं जायगा।

शिवनाथ ने आश्चर्यचकित पूछा—क्या सब ढोया नहीं जायगा?

वन्दना ने अविचलित उत्तर दिया—यही सब। मिथ्या का यह भार, भुलावे का यह भरम। अपराध करके मार खाती तो मुझे दुख न होता। वह मेरा प्राप्य होता किन्तु... किन्तु जाने दो। जो हो गया अच्छा हुआ। तुमने मेरी आँखें खोल दीं।

शिवनाथ—बिन्दो!

वन्दना कहती ही जा रही थी—एक दिन तुम इसी वन्दना को झूठ के बीच वरण करके लाए थे। स्वीकार करने के अतिरिक्त तुम्हारे पास कोई उपाय नहीं था। तब मैंने उसे तुम्हारी महानता समझा था। भाई भौजाइयों के तानों से तुम्हारे अकर्मण्य मन को बचाने के लिये मैंने अपने फटे आँचल की ओट में तुम्हें समेट लिया था और अपने हृदय की सम्पूर्ण निष्ठा और समर्पण का दान तुम्हें देकर अपने को कुछ ऊँची और महान समझने का दंभ किया था। आज मेरा वह गर्व धूल में मिल गया है। आज सोचती हूँ कि वह दंभ कितना मिथ्या, कितना खोखला और कितना प्राणलेवा था। तुम

कुछ विशिष्ठ नहीं थे, साधारण भी नहीं। मेरी पूजा ने तुम्हें महानता का आवरण उढ़ाया था। मेरी पूजा के फूल तुम्हारे पाँवों पर निवेदित होकर पत्थर बन गए। मूल में तुम भी वही थे, उसी लड़के जैसे जो मुझे फूलों का गुच्छा दिखा रहा था, नैना के यहाँ के दरवान जैसे या फिर इस नरेश जैसे जो हीरे की कीला देकर मुझे—नारी को—पाना चाहता था। मेरा कोई अस्तित्व नहीं है, नर के किसी उपयोग में आ सकूं यही मेरा अस्तित्व है।

एक साँस में बहुत कुछ कह गई वन्दना और फिर उसके अवरुद्ध आँसू बह चले। बाँध उन पर वह नहीं लगा सकी। कल रात मूर्च्छा से उठने पर और आधी रात के बाद छत पर पड़ी-पड़ी शिवनाथ की ओर देखते हुए उसने निश्चय किया था कि आँसू अब वह नहीं बहायेगी। कम से कम शिवनाथ के आगे वह अपने अनमोल मोती नहीं बिखेरेगी। इन आँसुओं ने उसका बड़ा अनिष्ट किया है। शिवनाथ के अहम् को इन आँसुओं ने ही बल दे देकर आज इतना ढीठ बना दिया है! और फिर, किसके आगे वह भीख के लिये झोली फैला रही है? कौन उसके आँसुओं का मोल चुकायेगा? कौन उसके मन का चिर-रुद्ध द्वार खोलकर अन्दर के अंधियारे में प्रकाश की किरण ज्योतित करेगा? कौन उसके प्रत्यक्ष अस्सी वर्ष की वृद्धा के तन की झुर्रियाँ हटाकर उसके अठारह वर्ष के युवती मन की गोपन साधें बूझेगा? कौन उसके अरमानों को दुलराएगा? कौन उसका मान रखेगा? कोई नहीं, कोई नहीं! इस इतने बड़े विराट् विश्व में कोई नहीं! सिन्दूर की साधना ने उसे भिखारिन भी तो नहीं रहने दिया! सुहाग ओढ़ लेने पर अपने मन से दान देने का अधिकार तो वह गवाँ ही चुकी थी, भीख माँगने का दैन्य भी उसके पास दुनिया नहीं देखना चाहती। किन्तु इस क्षण उसके आँसुओं ने फिर निषेध नहीं माना, वह बह चले। बह चले और उसका तन-मन भीगता रहा, आँचल भीगता

रहा और भीगता रहा उसका लुंठित आत्मगौरव, नष्ट नारीत्व, मर्दित मातृत्व !

सुहाग के नूपुरों का अनुरणन संगीत जैसे सहसा ही थम गया। शव-यात्रा की शान्ति वहाँ व्याप गई। थोड़ी देर ऐसे ही बीत गई किन्तु आँसुओं में भीग कर समय भी भारी हो उठा। वह असाधारण शान्ति शिवनाथ और वन्दना दोनों को खाने चुकाने लगी। वन्दना को लगा कि कल का निश्चय भूलकर वह जो इस समय फिर अपनी आँखों के मोती लुटा बैठी उससे सामने खड़े व्यक्ति का अहम् तुष्ट ही हुआ है। शिवनाथ वन्दना के साहस पर चकित थे—उसके हृदय के अनावृत सत्य ने उन्हें इतने आकस्मिक रूप से परिवेष्ठित कर लिया कि वह कुछ सोचने-विचारने का अवसर भी न पा सके। नग्न सत्य को झेल पाने का साहस न होने से उनका अन्तर विषाक्त हो उठा था। शरीर की शिरा-उपशिराओं में एक अव्यक्त सन्देह, एक परिच्छन्न शंका घर कर गई थी जो अपरिहार्य बन रही थी। शंकाकुल चित्त वन्दना के आँसुओं पर भी ठहरना नहीं चाहता था। उन्होंने वैसे ही कठोर स्वर में कहा—इस समय तो प्रेस जा रहा हूँ। बहुत कुछ आज कह गई हो। तुम्हारे मन में इतना विष भरा हुआ था, यह नहीं जानता था। नरेश ने तुम्हारे मन पर से ढोंग का आवरण हटा दिया, अच्छा ही हुआ।

वन्दना ने एक झटके से मुँह पर से बालों का झुरमुट हटाया, बोली—उसका नाम मत लो। वह तुम्हारा मित्र है, तुम्हारी ग़रीबी पर उदारता से आँखें मूंद कर तुम्हारे घर टिकने आया है। मेरा वह कोई नहीं है, वह रहे या जाय मेरे लिये बराबर है। रही ढोंग की बात, तो अपने मन में झांककर देख लो। मेरे मन का अमृत परखने की आँखें तुम्हारे पास कहाँ थीं ?

शिवनाथ ने चुपचाप इस समय चले जाना ही अपने हित में समझा।

आज सबेरे से ही बादल बरस रहे हैं। वन्दना ने क्या केवल अपना हृदय ही खोल कर सामने रख दिया ? सच ही क्या वह स्वयं अनावृत नहीं हो गए ? उनके अपने चित्त के सहज राग-द्वेष, ईर्ष्या और जलन ने क्या उस छोटी-सी डिबिया को केन्द्र बनाकर उन्मत्त तांडव नहीं आरम्भ कर दिया है ? नरेश उनका मित्र है, उसने वन्दना को एक भेंट दी। इसमें सन्देह और शंका के लिये कहाँ स्थान है ? किन्तु, किन्तु फिर वन्दना का यह आरोप-प्रत्यारोप ? यह स्पष्ट विद्रोह ? शिवनाथ के प्रति यह प्रत्यक्ष उदासीनता और आक्रोश ? आखिर क्यों ? सिर झुका कर स्वीकार कर लेने से भी तो चल जाता ? भेंट थी तो उन्हें बताई भी तो जा सकती थी ! छिपकर लेना और देना ! आखिर यह सब क्यों ? अन्तराल में आशंका ने फिर सिर उभारा, शिवनाथ मर्मक्षत, जाने लगे। वन्दना ने कहा—खाना खाते जाओ। बना चुकी हूँ। अभी इतना अधिकार मेरा बना हुआ है।

शिवनाथ ने घूमकर देखा किन्तु हाय रे पुरुष का दंभ ! समझौते के स्थल को विफल करते हुए उत्तर दिया—खा नहीं सकूंगा, पेट भर गया है। नरेश आता होगा, उसे खिला देना। —और प्रेस चले गए।

नरेश....नरेश...नरेश...सुनते-सुनते वन्दना के कान बहरे हो गए। क्या है यह नरेश ? यह भी तो पुरुष है, मनुष्य है देवता नहीं ! इसको लेकर आज वह क्यों इतने व्यस्त हो रहे हैं ? उसने कितनी करुणा में भीग कर कहा था—मुझे दुख हुआ भाभी, तुमने मेरी यह छोटी-सी बात नहीं रखी। बहुत दुख हुआ। तुम भूल जाओ कि कभी किसी ने तुम्हें एक भेंट देनी चाही थीं और तुमने उसे ठुकरा दिया। लेकिन न लौटातीं तो शायद उस किसी एक का मान रह जाता ! इसमें पाप की बात कहाँ उठती है भाभी ?

पाप क्या है ? क्या सच ही वह पापिष्ठा है ? क्या वस्तुतः वह शिवनाथ

के—पति के—सन्देह, शंका और ईर्ष्या की पात्री है? उसने किया ही क्या है? बहुत सोचने पर भी अपने किसी आचरण में उसे ऐसा कुछ नहीं मिला जो उसे अपराधिनी की संज्ञा दे सके। शिवनाथ का—स्वामी का—कोई मित्र उसे एक भेंट देता है, वह अस्वीकार कर देती है। मित्र बहुत दुखी हो जाता है, कहता है कि उसके स्वीकार-अस्वीकार पर मान-अपमान का प्रश्न है। उसके करुणासिक्त स्वर पर वह डोल जाती है, वह भेंट ग्रहण कर लेती है। इस निश्चय के साथ कि अवसर मिलते ही एकान्त में वह पति को इस विषय में सब बतला देगी। सब कुछ बतला देगी। अवसर और सुयोग इच्छा रहते हुए भी नहीं मिलते, दुर्योग से स्वामी वह भेंट अपने से देख लेते हैं और उनके मन में पुरुष का चिर-सनातन सुप्त स्वभाव अँगड़ाई लेकर उठ बैठता है। भूल जाते हैं वह संयम, भूल जाते हैं वह नारी का नर के प्रति एकान्त समर्पण! सन्देह उनके लिए सत्य हो जाता है, निष्ठा प्रश्न बन जाती है। उनके वचनवाण नारी को विद्ध करने लगते हैं। वह जानने की चेष्टा भी नहीं करते, समझना भी नहीं चाहते, उन्हें तो जैसे सम्पूर्ण सत्य एकबारगी ही मिल गया हो। तब, नारी का—वन्दना का—यही कर्तव्य है कि वह दयनीय बने? जो सुनना भी नहीं चाहता, जो समझना भी नहीं चाहता, उसके पीछे-पीछे अपने अकलंक चरित्र की महिमा गाती फिरे?. जिसने संशय को स्वतः सिद्ध मान लिया है उसे सत्य का परिचय देने जाने से बढ़कर विडम्बना और क्या होगी? और क्यों? उसका चरित्र क्या खेल की वस्तु है? इतने वर्षों में आठोयाम अपने दलित, कुंठित और सन्यस्त मन का निर्माल्य जिसके चरणों पर उसने अकलुष, एकाग्रचित्त से चढ़ाया है, जो उसकी निष्ठा और समर्पण का एकमात्र अधिकारी रहा है और जिसने उसकी अहोरात्रि पूजा-सेवार्चा अधिकार मानकर और प्राप्य भाव से ग्रहण किया है, वह भी—उसके निकट भी—आज उसका चरित्र प्रश्न बन

गया है? और वह अब तक एक आत्मवंचना में मरती रही, छल को सर्वस्व समझकर अपने को गर्वित करती रही! उत्तर देने की आवश्यकता उसे अब भी है?

किन्तु भूल गई वह, नहीं जानती थी वह कि नर के निकट नारी का चरित्र सदा-सर्वदा एक प्रश्न रहा है। उसने जब अपना विश्वास दिया भी है तब भी अपना प्रश्न करने का और उत्तर माँगने का अधिकार सुरक्षित रखा है।

नैना जब आई तब वन्दना बर्तन आदि समेट कर ऊपर जा रही थी—खाना उसने भी नहीं खाया था। रोते-रोते आँखें सूज गई थीं, बाल की एकाध लट माथे पर चिपकी हुई थी और आँचल आँसू से भीगा होने के कारण धरती की धूल से मिलकर मटियाला हो रहा था। हाथ भी वैसे ही काले हो रहे थे। वह घबरा गई, दाएँ हाथ की हथेली के पिछली ओर से माथे पर से लट हटाते हुये कहा—आप!

नैना ने दाड़िम के दाने बिखेरते हुए, इधर उधर देखकर उत्तर दिया—ठीक जैसा सोच रही थी, वैसा ही। और जीजी, मैं जब छोटी थी तब स्कूल में एक किताब में कहानी थी—परियों की एक राजकुमारी को एक बार एक राक्षस अपने घर पकड़ ले गया। हाँ, उससे वह चूल्हा फुंकवाता, कण्डे बनवाता....कहाँ हो जीजी?

वन्दना सोच रही थी—परियों की राजकुमारी को एक राक्षस पकड़ ले गया था! नैना के प्रश्न से चिहुँक पड़ी—लेकिन मैं पूछती हूँ, आप इस समय....

बात काटकर नैना ने कहा—छोटी बहन पहली बार बड़ी बहन के घर आई है, इसमें कोई दोष है क्या? न बिठाना न उठाना, मुँह में कालिख पोतकर स्वागत कर रही हो। हाथ में बेलना लेकर खड़ी होतीं तो और भी अच्छा होता! मूसल....

किन्तु दूसरे ही क्षण वह उन्मुक्त हँसी धूमिल पड़ गई, आशंकित होकर पूछा—जीजी, मेरा आना उचित नहीं हुआ न? मेरा तो समाज में कोई स्थान नहीं है, मेरे जैसी स्त्री किसी सम्मानित आदमी के घर जाय, यह तो ठीक नहीं कहा जायगा न? आपकी प्रतिष्ठा पर इससे आंच आएगी बहन, मैं चली जाती हूँ। न जाने क्यों जी नहीं माना, रामदीन से घर पूछकर चली आई!

भावावेश में वन्दना को पात्र-अपात्र और उचित-अनुचित का भी ध्यान नहीं रह गया। नैना के शब्दों ने उसे विचलित कर दिया। विचलित होकर उन्हीं कालिख भरे हाथों से उसने नैना को बाहों में भर लिया—मेरी प्रतिष्ठा पर आँच नहीं आएगी बहन, वह तो कब की जल चुकी है। मैं तो सोच रही हूँ, तुम जो आज कृपा करके इस कुटिया में आ गई हो वह मेरा किन जन्मों का सौभाग्य है!

नैना ने चेष्टा करके अपने को उस बाहुपाश से मुक्त किया, कपड़े झाड़ती हुई बोली—अरे रे, क्या कर रही हो? मेरे कपड़ों की हालत तो देखो!

फिर मीठी हँसी में भर कर कहा—तुम कुछ और न सोचना जीजी, यह मेरी आदत पड़ गई है। कपड़ों पर दाग-धब्बे मुझसे सहे नहीं जाते। न जाने मन कैसा-कैसा होने लगता है!

और फिर, तुरन्त ही उसका स्वर करुण हो आया—मन पर जो कालिख जमी हुई है जीजी, तन को उजला रखकर उसे बहलाती रहती हूँ।

यह सब कुछ इतनी जल्दी हो गया कि वन्दना कुछ समझ नहीं सकी। एक क्षण उसे लगा कि नैना ने उसके आलिंगन के लिए बढ़े हुए हाथ घृणा से दूर हटा दिए हैं किन्तु दूसरे ही क्षण नैना के स्वर की करुणा ने उसे आश्वस्त किया। तो यह घृणा नहीं थी, एक लम्बी अवधि

में चेष्टा करके अर्जित संस्कार ही इस व्यवहार में झाँक रहा था। उसने देखा, नैना की पीठ पर उसकी काली पाँचों उँगलियों की छाप थी, उसके आँचल पर भी दो चार स्थल पर काली-काली धारियाँ उभर आई थीं। व्यस्त होते हुए उसने कहा—तुम्हारे आँचल पर यह धब्बे देखकर लोग क्या कहेंगे ? अभी कोई देख ले, तो ? और यह सोचकर मैं और मरी जा रही हूँ कि यह मेरे कारण लगे।

नैना उसी स्थल पर गम्भीर गृहस्थिन की भाँति पीढ़ा खींचकर बैठ गई थी, बोली—आँचल के यह धब्बे ही तो लोग देख पाते हैं जीजी, और इन्हें ही लेकर दुनिया वाले खींचतान करते रहते हैं। स्त्री के अन्तराल में धीरे-धीरे कितना कर्दम जमा होता रहता है, कितना विष वह चुपचाप पीती रहती है, यह देखने कौन जाता है ? लेकिन तुम लाज से क्यों मरती हो जीजी, तुम्हारा दिया हुआ यह कलंक भी नैना के लिये चंदन बन जायगा।

वन्दना अपनी गरिमा से गर्वित होने लगी। प्रशंसा से पशु भी प्रसन्न होता है, वह मानवी थी। किन्तु अपना उत्फुल्ल भाव वह प्रकट कर दे, यह तो अपना हलकापन जताना होगा। वह चुपचाप मल-मलकर हाथ धोने लगी। नैना की दृष्टि स्थिर नहीं थी, बैठे ही बैठे वह जैसे इस घर का सब कुछ अपनी आँखों की राह उतार लेना चाहती हो। यह काली-काली धुएँ से मलिन दीवारें, यह दो चार टूटे-फूटे बर्तन, यह ऊपर बंधी अलगनी जिस पर बर्तन पोंछने का चीकट कपड़ा बेतरतीब पड़ा हुआ था, सिगरेट और बिस्कुटों के डब्बों में रखे हुए मसाले, हंडियों में रखे हुए गेहूँ-चना-दाल और मिट्टी के घड़ों में भरा हुआ पानी, सब कुछ जैसे उसे मधुर और नया लग रहा था। जैसे उसने अपने जीवन में यह सब कभी न देखा हो, जैसे उन बर्तनों में, सिगरेट के डिब्बों में, हंडियों और मिट्टी के घड़ों में उसके अपने जीवन का स्वप्न और सौन्दर्य बन्द

हो। जैसे वह एक युग से इसी अस्तव्यस्तता और दयनीयता की प्रतीक्षा कर रही हो, कि जैसे इसी के लिए उसका जन्म हुआ हो और यह न पाकर वह हो गई हो व्यर्थ, एक महाविराट् शून्य !

वन्दना ने हाथ धोकर देखा, नैना की दृष्टि ऊपर जमी हुई है जहाँ वर्षों से मरम्मत न हो पाने के कारण जगह-जगह पलस्तर झड़ गया है। उसने सफ़ाई देते हुए कहा—आठ रुपया इस घर का किराया है, हर महीने चुकता होता है पर मकान मालिक मरम्मत कराता ही नहीं। जिस साल व्याह कर आई थी उसी साल मरम्मत हुई थी।

ललक कर नैना ने जैसे धरती पर पांव रखते हुए पूछा—तुम्हारे व्याह को कितने वर्ष हो गये जीजी ?

एक घुटा निःश्वास छोड़ते हुए वन्दना ने जैसे सपनों में खोते हुए उत्तर दिया—तीन वर्ष हो गए बहन ! वह दिन कहाँ चले गए, कैसे बीत गए, पता ही नहीं चला।

किन्तु नैना ने इन शब्दों के पीछे छिपी तीन वर्षों की व्यथा-वेदना और करुणा का अनुभव नहीं किया। उसके सामने तो वन्दना का वही उस दिन का रूप था, वही जीजी थी जो अपने पति के लिए—सुहाग की रक्षा के लिए—उसके सामने अश्रुस्नात मुख और फैला आँचल लिए खड़ी थी। जिसने करुणासिक्त स्वर में कहा था—आपकी माँग में सिन्दूर कभी चढ़ा या नहीं, यह मैं नहीं जानती पर यह जानती हूँ कि नारी होने के नाते आप सिन्दूर की बाध्यता समझ सकती हैं। आज मैं आँचल पसार कर आप से पति के लिए भीख माँग रही हूँ। जीवन में गर्व के मारे यह माथा किसी के आगे नहीं नवाया लेकिन आज आपके सामने यह माथा झुक रहा है। मेरे पति के प्राण आज आप के हाथ में हैं बहन !

अभी उस दिन की ही तो बात है ! नैना को एक एक शब्द याद है। वह क्या केवल विवशता थी, और कुछ नहीं ? केवल रोगी पति

को अच्छा कर पाने का कर्त्तव्य ही था वह, मुमूर्षु के प्रति रोम-रोम की एकान्त ममता इन शब्दों में नहीं फूट पड़ी थी? वन्दना विश्वास भी दिलाना चाहती तो क्या यह संभव था कि नैना मान लेती, दो दिनों में ही मधुकालिन्दी का नीर सहसा ही विषाक्त हो उठा है, कि उसमें अवगाहन करके वन्दना तन-मन से काली हो गई है, कि सुहाग के लिए फैला हुआ आँचल आज फट कर तार-तार हो गया है?

मन में घिरते आते विचारों को एक झटके से दूर ठेलते हुए नैना ने उठते हुए कहा—तुम्हारा घर जीजी, चलो ऊपर भी देख आऊँ। मुझे बड़ा मोह लग रहा है।

सीढ़ियाँ चढ़ते हुए वन्दना ने पूछा—मोह लग रहा है? इस टूटे फूटे घर पर मोह? महल ऐसा तो तुम्हारा घर है! मुझ पर हँसो मत बहन, इससे मुझे चोट लगती है।

वन्दना ने आँचल मुँह पर ले लिया, दो बूँद आँसू आँखों से ढुलक पड़े। नैना ने झट से उसका हाथ पकड़ लिया, ठहरती हुई बोली—तुम्हारी हँसी उड़ाऊँगी मैं? मैं मुँहजली? सच कहती हूँ जीजी, तुम्हारे इस टूटे-फूटे घर पर ही मेरा मोह उमड़ पड़ा है। अपना महल मुझे काटने दौड़ता है। परसों तक यह बात नहीं थी जीजी! तुम भी मुझे नहीं समझोगी? छोटी बहन को बड़ी बहनसे भी क्या सहानुभूति नहीं मिलेगी?

ऊपर पहुँचकर नैना ने चारपाई पर बैठते हुए कहा—जिसके पास पैसा है वह ईंट-पत्थर का महल बनवा सकता है। धर्मशाला में भी आदमी रहते हैं जीजी, होटल में भी लोग रहते हैं। सुना है, वहाँ सब तरह का आराम रहता है, पैसा हो तो दुनिया की सारी न्यामत वहाँ बरस सकती है। पर वह घर तो नहीं कहा जायगा? घर होने के लिये कुछ और चाहिए।

फिर जैसे वह अपने में खो गई, कहीं दूर से जैसे उसके स्वर आए—

बढ़िया से बढ़िया रसोइया और खानसामा के हाथ से भोजन पाकर भी आदमी को उसमें वह रस नहीं मिलेगा जो शिवनाथ भाई को तुम्हारे हाथ की सूखी रोटी में मिल रहा है। तभी कहती हूँ जीजी, मुझे मोह हो रहा है। क्या जानूं, एक बार जीवन में यही सब करके धन्य होने का सुयोग मिला था, किन्तु विधाता से मेरा वह सुख देखा नहीं गया। तब से अब तक भटक रही हूँ और लगता है, यों ही भटकते-भटकते एक दिन दुनिया के लिए कहानी बन जाऊँगी। लोग कहेंगे, लालाजी की एक रखेल थी वह मर गई। किसी की आँखों में एक बूंद आँसू नहीं आयगा, कोई उस रखेल को झूठा सम्मान भी नहीं देगा। सुहागनों की भाँति उसका शव भी नहीं उठेगा। नर के जीवन को रस से भर जाने वाली नारी घृणा लेकर ही जायगी। आदर लेकर जायगी वह स्त्री जिसने रस को विष बना दिया है।

नैना के अन्दर की घृणित नारी के आँसुओं ने सती वन्दना को आपाद-मस्तक ऐसी करुणा में भिगो दिया कि उसका विश्वास डिगने लगा। जिस घर और जिस वातावरण में आज सांस लेने में भी उसका दम घुट रहा है, यह सामने बैठी नारी उसी घर और उसी वातावरण की कल्पना में अपने जीवन के दिन शेष कर रही है! क्या है यह सब? केवल मरीचिका ही तो नहीं? किसी अपरिचित, अनागत और अबूझ के प्रति सहज कुतूहल ही तो नहीं है यह? नैना ने तो अपना समर्पण देकर अविश्वास पाया नहीं, उसके सतीत्व को तो किसी के आगे परीक्षा देनी नहीं पड़ी, उसका निवेदन तो प्रश्नों से धूमिल नहीं हुआ! वह कैसे जानेगी नारी की वह ज्वलंत वेदना जो सन्देह की ज्वाला में बूंद-बूंद कर अपनी तरलता भी खोती जा रही है और हृदय को नीरस, शुष्क, जड़ पाषाण में परिवर्तित करती जा रही है! अनावृत सत्य को भी नैना क्या ऐसे ललक भरे हृदय से ग्रहण करेगी? कर सकेगी?

नैना ने तुरंत ही अपना वह करुण भाव झटकार कर अलग कर दिया, प्रकृतिस्थ होकर कहने लगी—जाने दो जीजी, मैं ऐसे ही अनमनी हो जाती हूँ। मैं तो एक काम से आई थी। अच्छा, शिवनाथ भाई को मेरा अपमान करने का क्या अधिकार था?

प्रश्न पर वन्दना आशंकित हो उठी, केवल नैना की ओर देखती रह गई।

नैना—परसों लालाजी प्रेस से बहुत देर में आए। मैंने उनसे सब कहा। मैंने तुमसे बताया था न जीजी, मेरी बात वह टाल नहीं सकते। कल लालाजी ने शिवनाथ भाई से कहा कि वह घर पर आराम करें, उनकी तनख्वाह हर महीने भेज दी जायगी। जब पूरी तरह अच्छे हो जायँ तब काम पर आ सकते हैं। जानती हो जीजी, शिवनाथ भाई ने लालाजी को क्या उत्तर दिया? बोले, नैना देवी की भीख पर वह नहीं रह सकते। तुम्हीं कहो जीजी, मैंने उन्हें भीख दी थी? मैं तुम्हें भीख देने की बात सोच भी सकती हूँ? क्यों कहा उन्होंने ऐसा?

कह कर वह रो दी। नैना की आँखों में आँसू! वन्दना विचलित हो उठी। उसके ही कारण आज शिवनाथ ने नैना का अपमान किया है! उस नैना का अपमान, जिसके पास वह उनके प्राणों का दान माँगने गई थी और जिसने अकलुष, निश्छल, निःस्वार्थ भाव से उन्हें निरोग कर पाने तक के लिए वन्दना को अभय दे दिया था। उसके निष्कलुष हृदय का मूल्य शिवनाथ लगा भी पायेंगे? देना तो दूर रहा—कुछ दे पाने में तो वह सदा से असमर्थ, अक्षम रहे हैं।

संध्या की छाया घिरती आ रही थी। समय किस तरह बीत गया कोई न जान सका। उठते हुए नैना बोली—चलती हूँ जीजी! भीख कहकर आज मेरी सेवा शिवनाथ भाई ने ठुकरा दी है। मेरे मन को इससे कितनी चोट पहुँची है, मैं ही जानती हूँ। उस दिन तुम्हें जीजी

कहकर बड़ी मान लिया है, तुम कम से कम मुझे छोटी बहन का मान दिए रहना। यही मेरे लिए बहुत होगा।

नैना सीढ़ियाँ उतरने लगी। वन्दना ने रुआंसी-सी होकर कहा—तुम्हें कुछ खिला-पिला भी नहीं सकी, क्षमा करना बहन।

नैना ने कोई उत्तर नहीं दिया। जब वह बाहर निकलने लगी, वन्दना ने एक दम व्यतिव्यस्त-सी होकर निहोरा किया—ज़रा ठहर जाओ बहन!

कुछ क्षणों बाद नैना के आगे अपनी अंजुलि बढ़ाते हुए उसने कहा—यह लेती जाओ बहन, जो उस दिन दिया था। कुछ ही कम होंगे।

नैना ने अंजुलि भर रुपयों की ओर देखा! तो अपमान केवल शिवनाथ की ओर से ही नहीं था! वन्दना की सहमति थी। उसने कटु होकर पूछा—तो उस दिन इस नैना के पास गई क्यों थीं? तब नहीं सोचा था?

वन्दना मर्माहत हो उठी, इस प्रश्न का उत्तर वह क्या दे? आँसुओं की बाढ़ पर बाँध लगाने की चेष्टा में वह विफल हो रही थी। किसी तरह कह डाला—उस दिन तुम्हारे सब प्रश्न तब उत्तर पा गए थे जब मैंने अपने सिंदूर की विवशता की बात कही थी। आज भी वैसी ही विवशता है बहन! मान जाओ और इन्हें ले लो। रख सकती तो छोटी बहन का मान ज़रूर रखती किन्तु उसका अब कोई उपाय नहीं है। कोई प्रश्न अब मत करो बहन! इतना विश्वास रखो कि जीवन में जब कभी यह आंचल सचमुच ही फैलाने की आवश्यकता पड़ेगी, छोटी बहन को भूल नहीं सकूँगी।

अँधेरा आँगन में बढ़ आया था। वन्दना को सुधि नहीं थी। तभी दबे पाँवों आया नरेश और ऊपर जाने लगा। वन्दना सचेत हुई—कौन? नरेश बाबू?

नरेश रुक गया—हाँ भाभी, लालटेन देना तो! जल्दी से सामान ठीक कर लूँ।

वन्दना चौंकी—सामान? सामान ठीक करके क्या होगा?

नरेश—आठ बज के कुछ मिनट पर ही तो गाड़ी जाती है न! मैं अभी बम्बई जा रहा हूँ भाभी!

दिन भर में नरेश ने कुछ निश्चय किया था। उसने सोचा था कि यहाँ रहकर इस समय वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। किन्तु जाऊँ या न जाऊँ के अनिश्चय की वह परीक्षा लेना चाहता था। उसके प्रस्ताव पर यदि वन्दना विचलित होती है तो वह संभावनाओं पर भरोसा कर सकता है, नहीं तो इस समय वह चला जायगा।

किन्तु वन्दना ने लालटेन जलाकर देते हुए कहा—तब तो समय हो रहा है। खाना तो अभी बना नहीं, नहीं तो खिला देती। व्यर्थ में यहाँ क्यों पड़े रहेंगे, काम हो गया हो तो जाना ही ठीक है।

इसी समय द्वार पर कई लोगों के बोलने के स्वर सुन पड़े। रामदीन ने बाहर से ही पुकार कर कहा—बहूजी, लालटेन—हाँ, इधर रोशनी कीजिए।

वन्दना ने चकित होकर द्वार पर जाकर देखा, रामदीन और कुछ मुहल्लेवालों के सहारे शिवनाथ किसी तरह घिसटते चले आ रहे हैं। समूचा मुँह और पूरा बायाँ हाथ रक्त-सनी पट्टियों से आवृत्त है और मुखाकृति अत्यन्त भयानक हो रही है। केवल एक आँख पट्टियों में से बाहर झाँक रही है और वस्त्रों पर रक्त के बड़े-बड़े छींटे पड़े हुए हैं। उस खुली आँख ने वन्दना और नरेश को मुहूर्त मात्र में पास-पास देख लिया, मुँह से एक कराह निकली और आँख बन्द हो गई।

निमेष मात्र में, जैसे कहीं बिजली गिर पड़ी, वन्दना हा-हा खाकर वहीं मूर्छित हो गई। उसके मुँह से केवल इतना ही निकला—हे भगवान!

अब यह क्या ?

लालटेन हाथ से छूट पड़ी—अंधकार! काजल-काला, दुर्भेद्य, दुर्निवार अंधकार!

रामदीन ने थोड़ी देर बाद जाते-जाते स्तब्ध बैठी वन्दना से कहा—लालजी ने कहा है, डॉक्टर बुलाकर मरहम पट्टी करा दी है और दवा खिलवा दी है। यह खाने की गोलियाँ हैं, कमज़ोरी के लिए। अगर ठिकाने से दवा-दरपन हुआ तो उठने-बैठने लायक़ जल्दी हो जायगे। और किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो बहूजी मँगवा लें।

वन्दना ने कहना चाहा कि थोड़ा ज़हर उसके लिये भी लालाजी भेज दें पर तभी शिवनाथ कराह उठे।

आठ

कष्टभोग हमको जीवन के प्रति एक गहरी अन्तर्दृष्टि देता है। शेष जीवन के नियोजन में अंगार बने आँसू साधन बनते हैं। जीवन में बहुत-बहुत संकट आते हैं। हम निरवलंब और असहाय से लगने लगते हैं। इस समय दुःख द्वारा प्राप्त अनुभूति के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई संबल नहीं रह जाता। वह अनुभूति ही तब हमारा बल बनती है। एकमात्र पाथेय!

इधर उधर घूम कर वन्दना की सूनी दृष्टि शिवनाथ के रोगी, पान्डुर और लुंज-मुंज शरीर पर आकर टिक गई। उसकी आँखें अनतिदूर भावी की विभीषिका से मुंद गईं। आशा नहीं, विश्वास नहीं, पुरजन-परिजन की व्यथा-वेदना नहीं, मित्र-बन्धु-बान्धव किसी की आँखों का एक बूंद जल नहीं। निर्बान्धव जीवन के पांथभवन में भगवान के सहज विश्वास का एक अनिश्चित कच्चा सूत्र पकड़ कर, सावन-भादों की भरी उफनती नदी-सा रूप और यौवन लेकर वह आकर जैसे ठहर गई है। आँचल को सयत्न और सजग रक्षा में है एक जीर्ण-शीर्ण, ध्वस्त, पतझर के ठूंठ-सा खंडहर व्यक्ति जो पल-पल आसन्न मृत्यु की क्रमागत छाया में डोल-डोल उठता है।

नरेश ने द्वार से झाँक कर कहा—भाभी, आरती देखने चलोगी?

वन्दना ने सुना नहीं। कहने के लिए तो उसके सभी हैं, बहन-माँ, घर-द्वार किन्तु इन सब को अपना कहने का बल वह बहुत पीछे छोड़ आई है। पिता के शव के साथ ही उसके यह अधिकार भी देहरी के बाहर हो गए। आज उसे जब अपनी अनबूझ वय में ही जीवन-मरण के महाप्रश्न की मीमांसा करनी पड़ रही है, उसके पास कोई नहीं। वह है और उसका अपरिसीम धैर्य! उसकी एकान्त निष्ठा, उसकी अनथक सेवा! इन नितांत व्यर्थ उपकरणों को संबल मान कर ही वह इस मुमूर्षु, म्रियमाण शिवनाथ को जिलाए हुए है किन्तु यह तो विपुलोच्छल मरण-नद को तिनकों की नाव पर पार करने की दुराशा मात्र है। इस मरण-पथ-पथी देह को लेकर वह क्या करेगी? साधना की यह सार्थकता कब तक चलेगी? कब तक वह यह असाध्य-साधन करती रहेगी? अरे, कब तक वह कर ही सकेगी! स्वस्थ होने के साथ ही साथ, शक्ति आते ही यह व्यक्ति अपने पांव की एक ही ठोकर से उसके विश्वासों और भावनाओं का संचित महल छिन्न-भिन्न कर देगा। किन्तु... किन्तु वह नारी है। अन्यथा वह क्या करे? सेवा ही उसका इष्ट है!

नरेश ने फिर कहा—भाभी!

पति की रोग शैया के पास बैठी वन्दना ने आँख उठाकर पुकारने वाले की ओर देखा। संध्या घनी हो गई थी, कमरे में प्रकाश नहीं थ.। नरेश वह निष्पंद, अपलक सूनी आँख देख नहीं सका। देख पाता तो डर जाता। वहाँ व्यथा नहीं थी, आशंका नहीं थी, आँसू नहीं थे, कुछ नहीं था। थी केवल विस्तृत, जनशून्य दिगन्तव्यापी मरुभूमि की प्यास जो आसपास के वातावरण की छाती बेधकर बाहर निकल आना चाहती हो। थी केवल विक्षुब्ध, अवरुद्ध दावानल की सर्वग्रासी तृष्णा जो समूची पृथिवी को अपने में समेट लेना चाहती हो। नरेश चुपके से वहाँ से हट

गया। अतीत के सपनों में उलझी वन्दना से कुछ कहने सुनने का साहस उसे इस क्षण नहीं हुआ।

व्यतीत के पटल एक-एक कर वन्दना के मानस-नेत्रों के सामने खुल रहे थे।

वह चन्दन! शिवनाथ का दूर के रिश्ते का भान्जा। व्याह होने के बाद जब वह यहाँ आई थी तब वह वन्दना से डरता था। डरने के साथ ही, बहाना निकाल कर बरबस आसपास बना ही रहता था। वन्दना की मुक्त हँसी उसे बहुत अच्छी लगती थी, यह बाद में उसने बताया था। उसी ने सबसे पहले एक दिन उँगलियों पर हिसाब जोड़कर और मामा के अन्य भाई-भतीजों की बड़ाई छुटाई का लेखा-जोखा करके वन्दना को समझाया था कि शिवनाथ मामा ने व्याह के समय अपनी वय छिपाई थी। वह चौंतीस-पैंतीस के थे, चौबीस-पच्चीस के नहीं। और फिर हँसकर कहा था—लेकिन मामी, अब तो मामा का भार तुम्हें लेना ही है!

आज तुम होते चन्दन तो देखते कि वन्दना ने, तुम्हारी मामी ने, तुम्हारी उस बात का मान रखा है। आज तक वह कर क्या रही है, भार ही तो ढो रही है। जीवन की लम्बी यात्रा में एक क्षण के लिए भी वह भार उतार कर रख दे और सुस्ता ले, यह सुविधा भी तो स्त्री के पास नहीं है! यह भार कितना मारान्तक होता है, यह सब समझने की बुद्धि तब वन्दना में नहीं थी किन्तु वह तब भी इतना जानती थी कि हिन्दू घर की लड़की जब एक बार बाप के घर से बाहर होती है तब जिसके साथ बाँधी गई है, जिसने उसके काले बालों को सुघराई से दो भागों में बाँटने वाली श्वेत रेखा में कुछ लाल-लाल रक्त-सा भर दिया है उसकी वय चौबीस है या चौंसठ, यह देखने से काम नहीं चलता। जनम-रोगी, अपाहिज को भी आराध्य मानकर पूजा के फूल निवेदित करना और एक दिन वय, नारीत्व और जीवन की चरम व्यर्थता हृदय

में और सतीत्व का गाढ़ा प्रलेप माथे पर लेकर मर जाना ही उसका परम कर्तव्य है।

वन्दना ने धीरे से एक बार उस विकलांग रोगी के माथे पर हाथ फेरा, कहीं जाग न जायँ! इस दुर्बल, दीन-हीन अनाकर्षक व्यक्ति को अनजाने ही उस दिन वह मानने लगी थी, पति कहकर अपने पल-पल के कर्ता-धर्ता-हर्ता के रूप में उसके पंगु और अवश मन ने स्वीकार कर लिया था। वह यही देखती आई थी, अपनी माँ, माँ की माँ, और उनकी माँ को भी उसने यही करते देखा और सुना था। टोले-मुहल्ले में भी यही होता था। इस मानने को, इस स्वीकार को वह कभी कोई नाम नहीं दे सकी। नाम देने की कभी आवश्यकता भी नहीं हुई। अपने मन में स्वयं वह स्पष्ट नहीं थी कि यह क्या है! श्रद्धा, भय, सुरक्षा की भावना या केवल परम्परागत संस्कार, क्या कहकर इसका परिचय दिया जा सकता है? प्यार? छि-छिः, इसकी तो वह कल्पना भी नहीं कर सकती, लाज आती है उसे! नीरस, काठ-से किसी आदमी से कोई लड़की प्यार की बात करे, यह कहीं संभव है? .... लेकिन संभव तो है! वय से प्यार थोड़े ही होता है, प्यार तो आदमी से होता है। और, 'आदमी' जहाँ मिल जाय, प्यार किए बिना कोई स्त्री रह कैसे सकती है? किन्तु, प्यार तो करने की बात नहीं! वह तो हो जाता है, आज वह जान गई है। तब तो वह समझती नहीं थी, जानती नहीं थी। अब जब समझ-बूझ सकती है तब कह सकती है कि उस दिन पढ़े गए व्याह के मंत्र उसके तन को ही बाँध सके, मन को नहीं छू सके। और शिवनाथ भी क्या उसे प्रेयसी मान कर चल सके? वह तो उनके लिए गृहणी थी, भार्य्या! वह विशाल बट-वृक्ष थे, यह उसकी छाया में फैलने वाली तन्वंगी लता! वृक्ष अपनी विशालता का सहारा दे सकता है, छाया दे सकता है, उसके हृदय के स्नेह का दान लेकर वह लता जीवित

नहीं रह सकती। सहारे के लिए वृक्ष को परिवेष्ठित किए हुए माधवी-लता जीवित रहने के लिए, फलने-फूलने के लिए आस-पास की धरती से रस संचय करती है।....तब जैसा समाज की चार लड़कियाँ करती हैं, उसने भी किया। व्याह कर सुसराल आई, रही, इस बेडौल, जन्म-रोगी शव के साथ एक पलंग पर सोई, इसे 'तुम' कहने में भी संकोच नहीं हुआ, पत्रों में रिवाज के नाम पर मर्म समझे बिना 'प्राणाधार' भी लिखा। सब किया और आज जब यह हाथ पाँव कटाकर असहाय और असमर्थ, एकमात्र उसी के अवलंब पर पड़े हुए हैं तब उनकी दी हुई ठोकरों और चोटों को भूलकर वैसी ही सेवारत और उन्मुख है। भाग्य को उसने एक दिन उद्धत चुनौती दी थी न! मृत्यु का तो एक दिन निश्चित है किन्तु जीवन्मृत बने रहने की अवधि? वह तो जैसे असीम, अनवधि और अशेष है!

शिवनाथ ने आँखें खोलीं। अपने माथे पर स्नेह-शीतल कर-स्पर्श का अनुभव किया और बोले—बड़ा अँधेरा है कमरे में!

बस। तुम्हारी आँखें केवल कमरे का अंधकार ही देख पाईं शिवनाथ! वन्दना के हृदय के धूमान्धकार को देख पाने की दृष्टि तुम्हारे पास नहीं है।—कहना चाहा वन्दना ने किन्तु चुप रह गई। उठने की चेष्टा करते हुए कहा—मुझे ध्यान ही नहीं रहा। मैं लालटेन ले आती हूँ।

किन्तु माथे पर के शीतल कर-स्पर्श का अनपेक्षित सुख छोड़ना शिवनाथ को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने मुंह बिगाड़ कर कह दिया—पता नहीं तुम्हें क्या हो गया है! न जाने तुम्हारा ध्यान कहाँ रहता है! अँधेरे में बैठी हो और बत्ती जलाने की भी याद नही! दस-ग्यारह तो बज ही गए होंगे!

टप् टप्! कुछ आँसू की बूंदें वन्दना की आँखों से गिर पड़ीं। घनी-भूत व्यथा पानी बन कर झर पड़ी। इसी अभागे के लिए, इसी उपेक्षित

और निरर्थक के लिए अभी वह, इसके माथे पर हाथ रखे, सर्वान्तःकरण से भगवान से मंगल की कामना कर रही थी। हृदय के किस अमाप-तल की निगूढ़ समर्पण-भावना लेकर वह इस अँधेरे में चुपचाप शिवनाथ के शापित मस्तक पर हाथ रखकर स्थिर हो रही थी, यह वह कभी जान पाएँगे? कोई इसका मूल्य चुका पाएगा? नारी के समर्पण का कोई मूल्य लग भी सका है? पल भर का अंधकार जिन्हें असह्य हो उठता है वह उस आयोजन को देख पाने की क्षमता कहाँ से लाएँगे जो प्राणों की समूची शक्ति लगाकर अपने जीवन के घिरते आते आगत अंधकार को दूर ठेलने के लिए किया जाता है?

उच्छ्वसित रुदन का वेग रोक कर वन्दना बोली—सच मानो, मुझे पता ही नहीं चला कि कब इतना समय हो गया। कमरे में आई तो देखा, तुम सो रहे हो। यों ही बैठ गई और न जाने क्या-क्या सोचने लगी। जाती हूँ, लालटेन ले आऊँ। बहुत जल्दी आऊँगी।

शिवनाथ विश्वस्त नहीं हुए। अव्यक्त सन्देह उनके मन में कुलबुला उठा। वन्दना उठने लगी। उसी समय नरेश हाथ में लालटेन लिए भीतर आया, कहा—सो रही थीं क्या भाभी?

वन्दना—नहीं तो, बैठी तो हूँ।

शिवनाथ को अच्छा नहीं लगता था, वन्दना और किसी अन्य के बीच उनके माध्यम की आवश्यकता ही न रह जाय! वन्दना किसी के लिए स्वतः क्षेय हो! उन्हें एक ओर रख, कोई सीधे वन्दना से बात करे! इस समय भी वह ऐंठ कर रह गए, आहत अहम् को दुलराते रहे।

नरेश उत्फुल्ल बोला—कुछ लोग बैठे-बैठे भी सो सकते हैं। अभी थोड़ी देर पहले आकर दो बार पुकारा। जब नहीं बोलीं तब चला गया। हमारे बम्बई में तो ऐसा नहीं चलता।

बैठे-बैठे सोने की बात सुनकर वन्दना को सहज हँसी आ गई। क्षण

भर पूर्व का घिरा हुआ मेघ इस मुसकान की बिजली से फट गया। अन्तस पर जमा हुआ बोझ जैसे उतर गया हो, किन्तु नरेश की बात पर यह जो पुण्यसलिला की कल-कल-सी खिल-खिल हँसी थी, शिवनाथ उससे कट गए। निश्छल मुसकान से वन्दना ने पूछा—एक बार तो आप आए थे, मैंने देखा था। क्यों आए थे? कुछ काम था क्या?

आरती देखने चलेंगी भाभी? विश्वनाथ जी के मन्दिर! आपने ही तो उस दिन कहा था!—नरेश ने भी प्रश्न किया।

तो, वन्दना ने स्वयं इस नरेश से कहा था! जब आदमी स्त्री को प्रेम देने में असमर्थ होता है, जब उसके सन्तोष के साधन स्वयं नहीं जुटा पाता तब संसार भर को सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है। जैसे सब उसकी पत्नी को खा जाने वाले व्याघ्र हों, वह पत्नी भी जैसे सबका भोजन बनने के लिए सदा सर्वदा उद्यत हो। शिवनाथ नरेश के प्रश्न पर अन्दर ही अन्दर घुट कर रह गए।

भीड़-भाड़ से वन्दना को चिढ़ है। वह कभी मेले आदि में नहीं जाती। यहाँ जब से आई है, एक दो बार मन्दिरों में गई किन्तु वहाँ का दृश्य देखकर देव-दर्शन का साहस उसका मर गया। किन्तु, जाने किस पागलपन की घड़ी में उसने उस दिन नरेश से कहा था कि वह आरती के समय विश्वनाथ के मन्दिर जाना चाहती है। उस समय अद्भुत शृंगार होता है और उस समय दर्शन करने पर बाबा विश्वनाथ प्रसन्न होकर—'दानी बड़ो दिन देत दिए बिन बेद बड़ाई भानी', जिनके लिए कहा गया है—अपरिमित वरदान लुटा बैठते हैं। जिसके आँचल में—कन्था में—क्षमता हो, वरदान सहेज-समेट कर रख ले।.... किन्तु अभी सारा काम जो पड़ा है। आशीष लूटने का अवकाश ही कहाँ है? समूची संध्या तो स्वामी की मंगल-चिन्ता में बैठे-बैठे बीत गई, अभी पथ्य का प्रबन्ध भी तो नहीं कर पाई! वह आज और अभी कैसे जा सकती है! कहा उसने

अन्यमनस्क-सी होकर—कहा तो था भैया, और चलती भी, पर अभी काम जो सब पड़ा है। देख तो रहे हैं, दस ग्यारह बज रहे हैं। अभी इनके पथ्य-वथ्य....ना भैया, फिर किसी दिन।

भैया! आश्वस्त होने के लिए शिवनाथ को पर्याप्त था किन्तु मन के अन्दर कुंडली मार कर जमी संशय की नागिन ने समझाया—यह सब छद्म-रूप है। छल है, धोखा! 'आप' की ओट लेकर यह सब 'तुम' का अभिनय है।

नरेश—दस बज रहे हैं? आप भी भाभी, बस क्या कहूँ! दस किस घड़ी में बज गए! मेरी घड़ी में तो अभी आठ भी नहीं बजे!

वन्दना—क्या जानूं, यही तो कह रहे थे! फ़िर, बजे नहीं तो बजते देर क्या लगती है?

इतनी देर बाद शिवनाथ बोले मुंह बिगाड़ कर—जब कह रहे हैं तब चली जाओ न!

यह व्यंग था या सच ही वह कह रहे थे, वन्दना सदा की भाँति नहीं समझ सकी। एक बार उसने उनकी ओर देखा, फिर सिर झुकाकर कहा धीरे से—अच्छा, चली जाऊँगी।

पति की मनःस्थितियों के अनुसार क्षण-क्षण पर हाँ और ना कहने-वाली अपनी इस अनमनी भाभी पर नरेश के पत्थर हृदय में भी करुणा उपजी। एकाध क्षण रुक कर उसने कहा—अभी नहीं भाभी, अभी बहुत समय है। तुम सब काम निबटा लो। दस-ग्यारह अभी कुछ नहीं बजे। लेकिन हमारी बम्बई में.....

शिवनाथ के मुंह पर जैसे थप्पड़ मारता हुआ नरेश बाहर चला गया। कंठ में अग-जग की करुणा और चिन्ता भर कर वन्दना ने पूछा—अब तो अच्छे हो रहे हो। कल डाक्टर कह रहा था, जल्दी ही पट्टियाँ खुल जायँगी और बुख़ार भी जाता रहेगा। इस समय कैसा जी है?

अच्छा हूँ—बोले शिवनाथ और दूसरी ओर करवट ले ली।

वन्दना एक ठंडी साँस लेकर उठी और रसोई में आकर पथ्यादि का प्रबन्ध करने लगी। इतनी उदासीनता? यही उसका प्राप्य. उसे मिल रहा है? नरेश जैसे कहीं पास ही रहा हो, वहीं आकर बैठ गया और इधर उधर देख कर बोला—भाभी, लोगों के मुंह से सुनता था और किताबों में पढ़ा था—अरे, वही शिवनाथ भाई से जब ले-लेकर पढ़ता था, ढेरों पढ़ डाली थीं भाभी—तो पढ़ा था कि स्त्री चाहे तो आदमी को राक्षस बना दे, चाहे तो स्वर्ग का देवता। तब मुझे बड़ी हँसी आती थी। जो बिचारी खुद ही किसी तरह पिट-पिटाकर दोनों जून पेट भर पाती है वह क्या किसी को देवता बनाएगी, क्या राक्षस! लेकिन अपने ऊपर जब पड़ी तब मानना पड़ा भाभी! मैं अब क्या वही नरेश रह गया हूँ जो महीने भर पहले था? ऊपर से तो कुछ नहीं बदला है, सब कुछ वैसा ही है पर भीतर ही भीतर मेरा शैतान दम घुटकर मर गया। यह सब क्यों हुआ भाभी, किसके कारण हुआ? आपके स्नेह ने, आपके अकपट निश्छल व्यवहारों ने मुझे एकदम बदल दिया।

अपनी प्रशंसा से वन्दना लाज से मरने लगी। उसने क्या कुछ नया किया है? नरेश कहता जा रहा था—बम्बई से जब आया था तब मेरे मन में चोर बैठा था। एक पाप लेकर आपके पास आया था भाभी। आपके सौन्दर्य की प्रशंसा बहुत सुनी थी, शिवनाथ की लाचारी भी जानता था। उस दिन नन्हीं-सी हीरे की कील देकर आपको पाना चाहा था। आप क्या जानती नहीं थीं भाभी? बोलिए, इतनी अजान थीं? हमारे बम्बई में तो....

वन्दना ने आँख उठाकर नरेश को देखा, धीरे-से उत्तर दिया—यह सब जानने के लिये पोथी पढ़ने की ज़रूरत नहीं है भैया, स्त्री इतना समझती है।

नरेश—आपके मन में नरक के लिए कुतूहल मैंने उकसा दिया। शैतान के प्रति मोह आपके मन में मैंने जगा दिया था। अन्त में आपको पाता या नहीं, नहीं कह सकता लेकिन शायद राह की भिखारिन बनाकर छोड़ देता। यही मेरा काम है। बदले में मुझे मिलता केवल एक आत्म-संतोष !

वन्दना अब क्या कहे ! नारी को राह की भिखारिन बनाकर छोड़ देने में आत्मतोष अनुभव करने वाले व्यक्ति के लिए उसके पास उत्तर ही क्या हो सकता है। यह सब वह क्या सुन रही है ? नरेश ने आगे कहा—किन्तु उस दिन जैसे मेरे मन का शीशमहल चकनाचूर हो गया। शिवनाथ की रक्तसनी लथपथ देह देखकर जिस संवेग के साथ आप मूर्छित होकर गिर पड़ी थीं वह मेरे लिए नया अनुभव था भाभी ! हमारे बम्बई में यह सब नहीं चलता। उस दिन, उस क्षण मुझे लगा कि आप कुछ और हैं। जिन नागिनों को सँपेरा बनकर अपनी पाप की बीन के स्वरों पर अब तक खिलाता आया था उनकी पांत में आप नहीं सोहतीं। मुझे शिवनाथ से घृणा है भाभी, अतिशय घृणा। उसे खून से लथपथ देखकर मेरे मन में करुणा नहीं उपजी, क्रोध भी नहीं आया। कीड़े के लिए कोई सोचने नहीं बैठता। किन्तु आपकी मूर्च्छा से उठने के बाद से लेकर अब तक की शिवनाथ की अक्लांत सेवा-परिचर्या ने मुझे पल-पल विवश कर दिया है भाभी। मेरा शैतान आपके देवता के चरणों पर गिर पड़ा। मुझे अपने से लगा, आपके लिए इस पशु के प्राणों की रक्षा करनी होगी। इस जानवर को मरने नहीं देना होगा। शायद यही मेरा प्रायश्चित्त हो ! फिर उस दिन जो बिस्तर खुला वह आज तक नहीं बँधा भाभी !

नरेश के इस परिवर्तित रूप पर वन्दना आश्चर्यचकित थी। सच ही क्या उसके पशुत्व को देवत्व में बदलने में वह निमित्त बनी है ? किन्तु नरेश की स्पष्टोक्ति तो अस्वीकार नहीं की जा सकती। चाटुकारिता भी इसमें नहीं है। एक क्षण वह मन ही मन अपने पर गर्वित हो ली, दूसरे ही

क्षण कहा—नरेश बाबू, एक बात पूछ सकती हूँ ?

नरेश—पूछिए। अब आपसे छिपा क्या है ?

वन्दना —आपकी पत्नी हैं ?

नरेश ने गहरी दृष्टि से वन्दना को देखा फिर जैसे बहुत दूर से, किसी कुएँ में खड़ा होकर उत्तर दिया—अन्यमनस्क-सा उड़ता हुआ उत्तर —है भाभी। बड़ा भारी संस्कृत नाम है उसका—कृष्णा।

वन्दना उत्तर की इस निर्लिप्तता पर विस्मित हुई, कहा—मुझे ग़लत न समझिएगा नरेश बाबू ! वह आपकी धर्मपत्नी हैं। उनसे क्या आपको प्रेम नहीं मिला ? इतने दिनों से आप उनसे अलग हैं, क्या सोचती होंगी वह ?

दार्शनिक हँसी हँसते हुए नरेश बोला—धर्म-अधर्म की बात तो मैं जानता नहीं लेकिन यह जानता हूँ कि मैं किसी से अलग नहीं हूँ भाभी। वही मुझसे अलग है। बम्बई में ही रहकर वर्ली में वह चकला चलाती है।

जैसे कहीं बम फूटा हो, वन्दना एकदम काँप उठी—चकला ? कहते क्या हैं नरेश बाबू ?

नरेश—हाँ भाभी ! ईज़ी मनी—आसानी से रुपए प्राप्त करने की उसे लत लग गई थी। वह पुरुषों को मूर्ख बनाने का व्यवसाय कर रही है। मैं बदले में, प्रतिहिंसा में भर कर, लड़कियों को नष्ट करने म सुख मानने लगा।.. किन्तु अब तो नरेश वह नहीं है। अब उसे घृणा मत करना भाभी, अब वह तुम्हारे संस्पर्श से पारस बनने की चेष्टा कर रहा है। देखूं, शायद सफल हो सकूं। पशु शायद आदमी बन जाय। तुम्हारी सेवा ही शायद मेरे पिछले पापों को धो सके। लेकिन हमारे बम्बई में ऐसा नहीं चलता।

वन्दना ठगी-सी बैठी रही, उसके मुंह से बोल ही नहीं फूटे। नारी के इस रूप की कल्पना भी वह नहीं कर सकती थी। स्त्री होकर स्त्री के तन के सौदे को व्यवसाय का रूप देने वाली कृष्णा उसके लिए कल्पनातीत

थी। नरेश ने समझा कि वन्दना उसी बात को लेकर व्यस्त है। कहा—आश्चर्य होता है भाभी? लेकिन मुझे तो आश्चर्य हुआ नहीं! नारी सब कुछ कर सकती है। पतन की राह पर एक बार पाँव बढ़ा चुकने पर वह रुकना नहीं जानती। यह मैं कह रहा हूँ भाभी जो स्वयं गले तक पतन के पंक में लिपटा हुआ है। पुरुष स्वतन्त्र है, वह बिगड़ सकता है तो बन भी सकता है। नारी परतन्त्र है न, उसे न बिगड़ने का अधिकार है न बनने का। वह बुराई की ओर जब बढ़ चलती है तब पीछे मुड़कर देखती है, अच्छाई का द्वार उसके लिए बन्द हो चुका है। मेरी बात मान लो।

यह महासत्य वन्दना पूरी तरह हृदयंगम नहीं कर सकी, कारण कि उसे इसका अनुभव नहीं था। वह उसी कृष्णा की बात सोचती जाती थी और निर्जीव हाथों से पति का पथ्य बनाती जा रही थी। कुछ देर इधर उधर करके नरेश ने पूछा—अच्छा भाभी, आप जो दिन रात शिवनाथ की सेवा में अपने को मिटाती जा रही हैं इससे आपको क्या मिलता है? आप तो प्राण दे रही हैं और वह सीधे मुँह बात भी नहीं करते!

यह नरेश बाबू कह क्या रहे हैं? शिवनाथ के साथ अपने अब तक के पत्नी जीवन के लम्बे-लम्बे तीन वर्षों में वह स्वयं भी तो इसी प्रश्न के सत्य-कृष्ण को लेकर उलझ रही है! जो सत्य उसके मन में प्रच्छन्न बना हुआ था, वह क्या अब इतना मुखर, इतना विराट् हो गया है! वह तो आज तक शिवनाथ के सीधे और टेढ़े मुँह को समान भाव से ग्रहण करती आई है! कहा उसने—सीधा-टेढ़ा क्या होता है नरेश बाबू, यह मैं नहीं जानती। जो सब करती हैं वही मैं कर रही हूँ।

नरेश—शिवनाथ को मैं आज से नहीं जानता। सब करती हैं यह माना पर वह किसी आशा से करती हैं। तुम, मेरा मतलब है कि आप शिवनाथ से क्या आशा करती हैं? इधर कभी शीशे में मुँह देखा है, कैसी हो गई हैं?

यह तो वन्दना भी समझती है। इधर कुछ दिनों में ही, एक मास में ही, वह मन के साथ-साथ तन से भी बूढ़ी हो गई है। उसके दमकते रूप की मूर्ति धीरे-धीरे खण्ड-खण्ड होती जा रही है। वय वही है किन्तु उसका स्वाभाविक चापल्य न जाने किस दुर्निवार भार से दबा जा रहा है। शिशिर-धौत पद्म-सा मुख वही है किन्तु असमय की वेदना बादल बनकर उस पर उमड़-घुमड़ रही है। युवतियोचित साधें पूर्ति के साधनों के अभाव में दम घुट-घुटकर मर रही हैं।.... किन्तु नरेश की बात में अपने रूप की प्रशंसा का संकेत जहाँ एक ओर उसे सहज ही अच्छा लगा वहाँ उसे लज्जा भी आई। बोली—आप भी नरेश बाबू, कैसी बातें करते हैं! मुंह को क्या हुआ है?

नरेश—हँसने की बात नहीं है भाभी! मुँह को क्या हुआ है, यह तो कोई भी देखकर कह सकता है। मैंने क्या आकर यही मुंह देखा था भाभी? यही मुंह देखने एक हज़ार मील चलकर आया था? इसी मुंह पर हीरे को कोल न्योछावर की थी? ख़ैर, मज़ाक छोड़िए, शिवनाथ की आँखें न देख सकें तो इससे क्या? मैं पूछता हूँ, आप यह सब क्यों करती हैं? किस सुख के लिये? हमारे बम्बई में तो यह नहीं चलता।

वन्दना ने हँसकर कहा—एक हज़ार मील चलकर मेरा मुंह देखने आए थे नरेश बाबू?

फिर आँख उठाकर नरेश को देखकर गहरी साँस लेती हुई बोली—सुख और सन्तोष की बात क्यों करते हैं नरेश बाबू? इन्हें जानने के लिए मुझे शब्द-कोष में अर्थ देखना पड़ेगा। मैं क्या कर रही हूँ? वह बीमार हैं, और वह तो हमेशा से रहे हैं—अब तो शरीर से भी लाचार हो गए न!—दवा-दरपन, पथ्य-पानी सेवा-यत्न मैं न करूँगी तो और कौन करेगा? ऐसे में इन्हें कहाँ छोड़ दूं? इतना सब न करने पर

पुरुष फिर हमें रखेगा ही क्यों? बोलिए, आपकी बम्बई में...

बात काटकर नरेश ने उत्तर दिया—नहीं भाभी, यह नहीं चलता। यह सब न करने पर पुरुष क्यों रखेगा यह तो मैं नहीं जानता किन्तु यदि रख सकता तो वही सच्चा रखना होता, यह जानता हूँ। हमारे बम्बई में.....

छोटा-सा घर होने के कारण, कमरे में यदि कोई जागता रहे और सुनना ही चाहे तो रसोई में होती बात की भनक उसे लग सकती थी। शिवनाथ अभी-अभी तन्द्रा से उठे थे, पुकार कर कहा—आज कुछ खाने को भी मिलेगा या बातें ही होंगी?

एक ओर पथ्य का प्रबन्ध, दूसरी ओर नरेश के कुरेदे घावों की जलन! वन्दना अन्यमनस्क हो गई थी। शिवनाथ के अच्छे हो जाने की स्थिति में भी जीवन का आगत अन्धकार उसके सामने था। उनकी नितान्त अक्षमता और चरम व्यर्थता उसका मुंह चिढ़ा रही थी। हाथ पाँव ठीक थे तब और बात थी, अब इस विकलांग को कौन पूछेगा? भगवान! इतना रूप, यह यौवन, यह समर्पण की निष्ठा, यह सब तुमने नारी को क्यों दे दिया? कष्ट-सहन की क्षमता दी, धरती-सा धीरज दिया तो उसका मन भी पत्थर का क्यों नहीं गढ़ा जिससे वह कुछ अनुभव ही न कर सके! अनुभव कर सकने की शक्ति दी तो साहस क्यों नहीं दिया कि वह सब कुछ झटकार कर अलग कर सके? तब वन्दना भी तो दुख-सुख से अछूती रह सकती थी! गतागत की चिन्ता से मुक्त वह भी तो सब सोच सकती थी—"टूट ढाट घर टपकत खटियौ टूट, पिय कै बाँह उसिसवाँ सुख कै लूट!" किन्तु उसे तो इस सुख की लूट में भी अपांक्तेय कर दिया गया। हाँ, दुःख के अशेष-कोष का एकमात्र दान तुमने दया कर उसे ही दे दिया!

शिवनाथ को पथ्यादि देकर, जली हुई उँगली फूँकते हुए वन्दना ने पूछा—अब तो सब काम हो गया। कहो तो जाऊँ, आरती देख आऊँ!

आरती, आरती, शाम से ही सुन रहा हूँ। मैं मना करता हूँ? जाओ न, जब तुम्हें नरेश के साथ जाना ही है तब आरती और मन्दिर ही क्या बुरे हैं?—शिवनाथ ने झुँझलाकर कहा।

वन्दना का उत्साह बुझ गया। उसने मन में सोचा था, आरती के समय वह बाबा विश्वनाथ से पति के लिए भीख माँगेगी। कहेगी कि भोलेनाथ, लुंज ही सही, असमर्थ ही सही, मेरे सिन्दूर को पोंछ मत देना। मैं तुम्हारी शरण हूँ। पति के कटूक्ति की आँधी ने भीख के लिए फैले आँचल को झटकार दिया। धीर स्वर में बोली—जाने की ऐसी कोई जरूरत नहीं है। उस समय तुमने भी जाने को कह दिया था, इसीलिए पूछा।

सन्देह और बीमारी ने मिलकर शिवनाथ को बहुत चिड़चिड़ा बना दिया था। कई बार उन्होंने साहस एकत्र करना चाहा कि नरेश से कह दें कि वह यहाँ से चला जाय किन्तु उनका क्रोध दुर्बल और अपाहिज का क्रोध था। एक ओर जहाँ नरेश की उपस्थिति उन्हें अच्छी नहीं लगती थी वहाँ दूसरी ओर वह देख रहे थे कि इस समय वही उनका प्राणदानी बना हुआ है। मशीन में पड़कर हाथ-पाँव कटा बैठने के बाद से अब तक अस्पताल, ऑपरेशन, औषध और भोजन-पानी का प्रबन्ध एकमात्र उसी के रुपयों से शायद हो रहा है। घर का किराया उसने दिया है। वह अनिवार्य गलग्रह की भाँति जैसे इस घर-परिवार पर छा गया है। कह देने से वह चला जायगा किन्तु तब मरेंगे वह। एक दिन नौकरी छूटने की बात पर सहज ही उन्होंने वन्दना से कहा था—मरेंगे वह, किन्तु अब तन और मन से अक्षम होते जाने के साथ-साथ जीवन से वह और चिपटते जाते थे—मोह बढ़ता जा रहा था। एक निरुपाय कुंठा से ग्रसित स्वरों में उन्होंने उत्तर दिया—कह न देता तो क्या करता? जमदूत की तरह नरेश जो सिर पर सवार था!

शिवनाथ, यह तुम कह रहे हो? जो तुम्हारे प्राण इस समय बचा

रहा है, जो तुम्हारी वन्दना के कारण पशु से मनुष्य बन गया है और तुम्हारी कदर्य विवशता के कारण जिसका दान तुम्हारी पत्नी को कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करना पड़ा है, वह तुम्हारे लिए जमदूत है!

वन्दना ने डूबते हुए कह दिया—तो रहने दो, न जाऊँगी।

पथ्य पाकर शिवनाथ में कुछ ज़ोर आ गया था। एकदम ही उन्हें ध्यान आया कि इस समय नरेश की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ भी हो, उसका मान रखना होगा। तीखे स्वर में, उछलने की चेष्टा-सी करते हुए बोले—न कैसे जाओगी? और, मैंने उसके सामने कह जो दिया है!—और फिर चारपाई पर ढह पड़े।

वन्दना तिलमिला उठी। उसके मन में आया कि उनसे भी अधिक तीखे स्वरों में चिल्लाकर कह दे—तुम्हारे कहने का मान मैं बहुत रख चुकी, अब कुछ कहने सुनने का अधिकार तुम खो चुके हो! इस तरह डरा धमका कर तुम वन्दना को नहीं पा सकते, पाओगे उसका निर्जीव शरीर! तुम्हारे कुछ कहने का मूल्य ही बहुत बड़ा है? मेरा कहना, मेरी इच्छा-अभिलाषा, मेरा मन कोई मोल नहीं रखते?....किन्तु वह फिर भी चुप रह गई। इस पंगु से रार मोल लेने में भी उसे दया आने लगी।

शिवनाथ ने फिर कहा—यह सब तमाशा मुझे अच्छा नहीं लगता। एक बार 'हाँ' एक बार 'नहीं'। जाओ और जल्दी आना।

बाबा विश्वनाथ के मन्दिर में भी वन्दना को शान्ति नहीं मिली। वहाँ का वातावरण भी उसके मन की कटुता से विषक्त हो उठा। आरती के लिए जलाए गए नन्हें-नन्हें दीपों की झिलमिल लौ अनगिनत अग्नि-जिह्वाएँ निकाल कर उसे अपने में समेट लेना चाहने लगीं। गुरु-गम्भीर कंठ से समवेत स्वर में निकले हुए पुजारियों के हिन्दी-संस्कृत-मिश्रित उपासना के अशुद्ध मंत्र उसे सन्तोष का सन्देश नहीं दे सके। कोने में बैठे निमीलित नेत्रों वाले भक्ति-विभोर पंडित जी की चुटिया

में बँधा बेलपत्र हिल-हिल कर जैसे उसका मुँह चिढ़ाने लगा। एकमात्र नरेश का संकेत उसे खाता-चुकाता रहा, शिवनाथ से उसे कुछ आशा नहीं रखनी चाहिए। कुछ नहीं, कुछ नहीं, एक सर्वग्रासी, कूलप्लाविनी चरम व्यर्थता जिसने उसके भूत, वर्तमान और भविष्यत् को निःशेष वेदना-सिन्धु में डुबो दिया है। एक गहन, अभेद्य, अधेरा गह्वर जहाँ से कभी, किसी युग में, किसी का निस्तार नहीं हुआ—रक्षा के लिए निकले हुए कंठ का स्वर जहाँ भटकता-सा घूमता रहता है, टिक कर बैठ रहने का स्थल जहाँ ढूंढ़े भी नहीं मिलता। पुजारी के हाथ में, मन्दिर के बाहर गली में खरीदे हुए फूलों के गजरे और बताशे देकर जब वह ध्याना-वस्थित हो रही तब वह भगवान औढरदानी शंकर से, पार्वती ने जिन्हें भारी तपस्या के बल पर पाया था, क्या अनुयोग-अभियोग करने लगी कौन जाने !

आरती समाप्त होने पर वह स्वतः प्रस्फुटित निवेदन की मूर्ति पुजारी के लिए आन्तरिक श्रद्धा का कारण बन गई। उसका साहस न हुआ कि यह तन्मयता भंग करे। प्रसाद के माला-फूल और बताशे उसने नरेश के हाथ में दे दिए। नरेश ने ही कहा—भाभी, अब चलो।

निद्रा से जैसे जागकर वन्दना ने माथा नवाया और उसके अन्तः-करण ने कहा—बाबा विश्वनाथ, जिसने अविश्वास किया है उसके सामने अपने विश्वास का परिचय देने जाय, इतना दयनीय और दुर्बल तुम अब किसी स्त्री को मत बनाना। किन्तु उसके सिन्दूर की लाज रखना, उसका सुहाग-शव उसकी आँखों के आगे से मत हटाना। गौरा पार्वती, और मुझे कुछ नहीं चाहिए। तुमसे यही माँगती हूँ, मुझ पर दया करो।

नरेश आत्मविभोर हो रहा था। अपनी बम्बई में उसने यह सब नहीं देखा था। चुपचाप दोनों घर लौट आए।

संध्या को ही सो लेने के कारण शिवनाथ इस समय जाग रहे थे।

आज उनकी दृष्टि में न जाने कहाँ की मुग्धता, लुब्धता भर गई थी। शायद नरेश की उपस्थिति ने और उसके प्रति अव्यक्त, परिच्छन्न सन्देह ने उन्हें अपने पौरुष की ओर से सावधान किया हो और अपने नर का परिचय देने के लिये उकसाया हो। नरेश ऊपर सोने चला गया था। वन्दना कमरे में शिवनाथ को प्रसाद देने गई तो डर गई। वैवाहिक जीवन के तीन वर्षों में उसने उन्हें इतना विचलित कभी नहीं देखा था। पुरुष की ऐसी मुग्ध-लुब्ध दृष्टि नारी के हृदय में आँधी ला देती है किन्तु वन्दना को उससे रोमांच तक नहीं हुआ। यह उसके अक्षम, असहाय और उदासीन, जराजीर्ण पति की वैसी ही दृष्टि थी जैसी एक नख-दन्त-विहीन व्याघ्र की! यदि कोई और ऐसे देखता तो वह धरती में समा जाती किन्तु इनसे भाग कर कहाँ जाय? उसे क्षोभ हुआ, किस कुघड़ी में उसने प्रसाद में मिली माला अपने जूड़े में लपेट ली! इच्छा हुई कि नोच कर फेंक दे।

शिवनाथ ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—अब मुझे लगता है, मैं थोड़े ही दिनों का मेहमान हूँ!

वन्दना सिहर उठी, बोली—शिः ऐसा नहीं कहते। पहले से अच्छे हो। हाँ, अब कुछ कर नहीं सकते।

शिवनाथ—तुम नहीं जानतीं! मैं सोचता हूँ, मेरे न रहने पर तुम्हारा क्या होगा!

सोचना ही तो तुम्हारे वश की बात रही है शिवनाथ! तीन खण्डों वाले भवन में रहने की साधवाली यह वन्दना जो है, जिसने संघर्ष से हार कर अपनी नियति से समझौता कर लिया है और राजकुमार के बदले भिखारी पर अपना सर्वस्व उड़ेल दिया है उसका तुम्हारे रहने पर ही क्या कुछ हुआ जो वह तुम्हारे न रहने की विभीषिका से संत्रस्त हो? किन्तु वन्दना का जी जाने कैसा-सा होने लगा। मरने जीने की बात

उसे अच्छी नहीं लगी। काँप कर कहा—लेकिन ऐसा सोचते ही क्यों हो? मैं आज शंकर जी से भी प्रार्थना कर आई हूँ। तुम्हारा कुछ अनिष्ट नहीं होगा।

शिवनाथ—अब और क्या अनिष्ट होगा?

और उनके मन ने कहा—तुम्हें खो रहा हूँ, इससे बढ़कर भी कुछ अनिष्ट है क्या?

तैंतीस कोटि देव-देवियों पर शिवनाथ को भी बड़ी आस्था है, जैसी सब दुर्बलों को होती है, किन्तु इस समय उन्हें भीतर से बल नहीं मिला।

कुछ समय और बीता। रात का सूनापन वन्दना को डराने लगा। कहीं कोई नहीं, निःशब्द काली रात और एकान्त, मरणछाया से अभिभूत कोठरी में पंगु पति और वह! वर्तमान का यह घनीभूत अंधकार और दूर-दूर तक दृष्टि गड़ाकर देखने पर भी कहीं प्रकाश की एक किरण तक नहीं। वन्दना ने भयभीत होकर कहा—कुछ और बात करो। यह सब मैं नहीं सुन सकती।

थोड़ी देर बाद शिवनाथ ने धीरे से कहा—आज सोना नहीं चाहता।

अंधकार था, उर्वशी थी। बोले, जाने किस पागलपन में—आज तुम बहुत सुन्दर लग रही हो। पता नहीं, विधाता ने किस जन्म का बैर मुझसे निकाला! तुम्हारी साधें मन में ही रह गईं!

संकेत इतना स्पष्ट था कि वन्दना की एक युग की दबी हुई साधें, सच ही, इस क्षण उसे खाने-चुकाने लगीं। चिरकाल की अनावृष्टि उसके मन में ज्वालामुखी का विस्फोट कर गई। शिवनाथ सो गए थे, निरुद्वेग, निश्चिंत और शिथिल! गहन अंधकार में खुली आँखों से वन्दना अभिशापों का भैरव-नृत्य देखने लगी। असन्तोष और अभाव से युद्ध करते-करते उसने एक पल में ही हृदय को कुरुक्षेत्र बना डाला। उसका अन्तर्मन कह रहा था कि वह इस पास पड़े शव को झकझोर डाले, उसे अस्त-व्यस्त

कर दे, उसे क्षत-विक्षत कर डाले। क्यों? क्या अधिकार था तुम्हें उस सुन्दर कहने का? उसके तन-मन में ज्वाला सुलगा देने का? यौवन को नींद से जगाकर तुम चैन से सोना चाहते हो? सौन्दर्य को छेड़ कर स्वस्ति की सांस लेना चाहते हो? नारीत्व की नागिन से औचक खेलना चाहते हो?

ऊहापोह में रात बीत गई। पौ फटने के पूर्व नीचे द्वार पर खट्-खट् हुई। वन्दना ने समझा, परबतिया आज बहुत जल्दी आ गई।

फिर खट्-खट्!

वन्दना ने नीचे जाकर पूछा—कौन?

टेलीग्राम!—स्वर आए।

वन्दना सहसा समझी नहीं। तार वाले ने फिर कहा—तार है, ले लीजिए।

थोड़ी देर बाद नरेश, शिवनाथ और वन्दना के सामने मुँह बिगाड़कर कह रहा था—कृष्णा के चकले पर पुलिस ने छापा मारा होगा शायद! तार में यही लिखा है कि वह दोपहर की गाड़ी से आ रही है। संकट के समय नरेश याद आया है।

शिवनाथ और वन्दना, दोनों व्यस्त हुए। शिवनाथ इसलिए कि यह चकले वाली कृष्णा कौन है और वन्दना इसलिए कि अब कृष्णा इस दरबे में कहाँ रहेगी! नरेश ने शिवनाथ के उत्सुकता में खुले मुँह की जैसे उपेक्षा करते हुए वन्दना के नत नयनों को संबोधित करते हुए कहा—नहीं भाभी, आपके कुछ सोचने की बात नहीं है। नरेश का विवेक इतना नहीं मर गया है कि उसे यहाँ लाए। उसकी अपवित्र छाया इस मंदिर में नहीं पड़ेगी। उसका स्थान यह नहीं है। राम से तो कुछ आशा नहीं है किन्तु कभी राह-बाट में पड़ी वह शिला सीता के—तुम्हारे चरणों के पावन स्पर्श से अहल्या बन गई तो उसका अहो—

भाग्य। यह अच्छी तरह जान लो भाभी, वह नागिन है। अंग-अंग में उसके ज़हर भरा हुआ है। लेकिन तुम शायद उस पर भी अपना विश्वास ही लुटाओगी।

नरेश की बात से शिवनाथ और अंधकार में हो रहे। वन्दना विश्वस्त हुई। साथ ही कुतूहली भी।

नौ

असाढ़ का पहला दौंगरा बरस कर अभी-अभी निकल गया है। पियासी धरती के तपते कंठ में वह छहर-छहर बूंदें आग में घी का काम करके चली गईं। सोंधी-सोंधी माटी की महक मन-प्राण को आकुल-व्याकुल करने लगी है। घाम में गरमी भरी ऊमस है।

नैना ने बिंदिया को भी नहीं बुलाया, स्वयं ही उठकर खिड़की खोल दी। वक्षोजाम्बुजों तक निरावृत उसकी कमल-कोमल बाहें खिड़की के पल्ले पकड़े स्थिर हो रहीं। उसका मन इस समय अनायास ही उचाट हो आया था। दूर, जहाँ तक दृष्टि पथ का अन्त था, एक विराट् शून्यता, रिक्तता जैसे व्याप्त थी। आम और जामुन के पेड़ों ने बाग़ के कोने में जहाँ घनी छाया कर रखी है, माली ने वहीं अपने लिए एक छोटी-सी मड़ैया बना ली है। उसी में उसका पूरा परिवार रैन—बसेरा लेता है। मड़ैया चारो ओर से खुली है, केवल ऊपर छाजन है, जैसे माली-दम्पति को अपने प्यार के लिए आड़ की—ओट की—आवश्यकता नहीं। भय केवल ऊपर वाले से है। चारदीवारी के बाहर नंगी सड़क पर धूप पसरी हुई है और सड़क पार विस्तृत मैदान में आदमी न पखेरू, केवल

दो चार गाय एक पेड़ के नीचे बैठी जुगाली कर रही हैं। कभी-कभी कोई रिक्शा अपनी कार्य व्यस्त सवारी को लेकर, सूनी सड़क की छाती दलता हुआ, निकल जाता है और चालक की नंगी पीठ पर से ढुलके हुए श्रम-सीकर दहकती धरती छिन मात्र में सोख लेती है।

एक महीने तक नैना ने अपने मन पर कठोर संयम किया—वन्दना के यहाँ नहीं गई। एक दिन भी ऐसा नहीं बीता जब उसे अपनी जीजी का ध्यान न आया हो, जब वन्दना की स्थिति जान लेने के लिये उसका चित्त चंचल न हुआ हो किन्तु उस दिन वह एक मान लेकर लौटी थी। वन्दना ने रुपये देते समय आँखों में आँसू भरकर कहा था—'कोई प्रश्न मत करो बहन! रख सकती तो अपनी छोटी बहन का मान अवश्य रखती। जीवन में जब कभी आँचल फैलाने की ज़रूरत पड़ेगी, छोटी बहन को न भूलूंगी।' उस समय, सच ही, उन आँसुओं के आगे नैना के सब प्रश्न व्यर्थ हो गये थे किन्तु घर लौट कर अपने अस्तित्व के प्रति अनास्था भरे मन से सोचने पर एक बार फिर उसका आहत आत्म-सम्मान जाग उठा। भूल गई वह वन्दना के सिन्दूर की विवशता, उसके नत-नयनों की वह तरल भाषा, छोटी बहन को दिया हुआ उसका आश्वा-सन—केवल एक मर्दित अहं उसे मन ही मन मथता रहा। कैसी बहन, किसकी छोटी बहन? वह तो वृन्तच्युत, छिन्ननाल वन की पुहुप है जिसका खिलना लोगों की आँखों में सौन्दर्य—सृष्टि नहीं करता, उपवन का सयत्न संचित कुसुम नहीं जो सबकी आँखों में खुभ जाता है। समाज द्वारा उपेक्षिता, पति-परित्यक्ता नारी जिसका विगत काला और आगत लक्ष्य-हीन! वर्तमान उसका मर्यादा के तटों को छूकर रह गया है। लालाजी के दो-चार चाटुकार उसे संभ्रम की दृष्टि से देखते हैं किन्तु सूने में अपने घर की सम्मानित परिधि में बैठकर वह भी उसका नाम लेने पर घृणा से ओठ सिकोड़ लेते होंगे! उसके रस—छलछल हृदय की मधुरिमा,

को अपना मोल नहीं मिला। पति उसे त्यक्ता बनाकर चले गए तो यह भी उसका ही दोष था क्या ? उसके समर्पण में तो कृपणता नहीं थी, उसका निवेदन तो अधूरा नहीं था, उसका उत्सर्ग तो अनोन्मुख नहीं था ! तब वह नन्हीं थी, कुछ जानती नहीं थी किन्तु आज सब कुछ जानने की स्थिति में रहकर वह कह सकती है कि उस दिन कुछ न जानते हुए भी उसने अपने छोटे-से मन-घट का समस्त रस उस भगोड़े अस्थिर पर उड़ेल दिया था। जब वह अपनी प्रिया को लेकर एक रात इसे सोती छोड़कर कभी न आने के लिए चला गया तब वह सकते में आ गई थी। अपना दोष उसे ढूंढे भी न मिला था। सास-ससुर ने तानों के मारे उसका जीना दूभर कर दिया, अपने चिरंजीव के परदेस-पलायन में उन्हें एकमात्र नैना का ही अपराध लगता था। नैना ने रो-रोकर सबसे कहा कि कोई मुझे जहर लाकर दे दो, मैं खाकर सो रहूँ, मुझसे यह आरोप नहीं सहन होगा किन्तु यह दया किसी ने न की। अन्त में उसने अपने घर चिट्ठी भेजी, आँसुओं में एक-एक अक्षर जिसका नहाया हुआ था। पाँचवे दिन पत्र के उत्तर में माँ आ गई। नैना ने गोद में मुँह छिपा लिया और विलाप कर उठी, माँ की कोख ने धरती की भाँति सीता को अपने में समेट लिया। नैना ने सब कुछ बतलाकर बिलखते हुए कहा—मैं मर जाऊँगी माँ !

माँ की करुणा जलने लगी थी, बोली—मरें तेरे दुश्मन बिटिया ! सारे संसार में जगह न हो, माँ के आंचल की छाँव में तू सारी जिन्दगी काट सकती है। वहाँ से तुझे कौन हटावेगा ? तू चल मेरे साथ !

तभी आ गई थी नैना की सास। बात का सूत्र पकड़ कर कहा—ले ही जाव तौ अच्छा है। जब चान-सुरुज सा लड़का रिसिया कर चला गया तब इसे लेकर क्या होगा ? काहे री, यह टेसुए तब नहीं बहाए थे जब मरद जाय रहा था ?

चाँद-सूरज-सा लड़का खो देने वाली सास के भय से नैना माँ की गोद में और सरक गई, माँ ने ममता की पकड़ और कस ली। सास के जाने के बाद नैना ने डरते-डरते अकेले में अपनी पीठ और स्तन उघार कर दिखाए, बेंतों की मार की नीली-नीली धारियाँ दोनों स्थानों पर उभरी हुई थीं। तब हुआ यह कि माँ और बेटी चुपचाप, अनाडम्बर, अनासक्त वहाँ से चली आईं। बेटी रोती कलपती, इसलिये कि उसके माया-ममता, मोह, सुहाग सब उस देहरी के उधर ही रह गए थे और वह एक भारी लांछन लेकर देहरी के इस ओर निकली थी। मां दृढ़-प्रतिज्ञ और कठोर, इसलिए कि उसकी करुणा को कुरेदा गया था और उसकी सतवन्ती बेटी पर अपराध लगाया गया था। एक बार उसकी इच्छा हुई थी कि सास के मुँह पर ही उसके पूत के लच्छन गा दे, चाँद-सूरज की कालिमा दिखा दे, बतला दे कि किस डायन के प्रेम-पाश में बँधकर खिचे हुए उसके सपूत चले गए हैं किन्तु लड़की की माँ होने की कलक कचोट उठी। उसने बेटी दी थी, दबना उसका 'धरम' था।

नैना का जी जाने कैसा-सा कर उठा। माली की मड़ैया में माली को उसकी घरवाली खाना खिला रही थी, सूखी-सूखी मोटी रोटियाँ और गुड़, और एक हाथ से माछी उड़ाती जा रही थी। दोनों के असुन्दर मुखों पर तृप्ति और सन्तोष दूर से ही झांक रहे थे। माली की घरवाली को लाज की अलाय-बलाय नहीं, उसने कुर्ती तक नहीं पहन रखी थी। हाथ के हिलने के साथ ही उसके कुचद्वय उद्वेलित हो उठते थे। माली ने हँसकर शायद कुछ कहा, मालिन ने लाज का नाट्य करते हुए उँगलियों को चुटकी से धोती का पल्ला तनिक यों ही-सा खींच लिया। नैना ने ललक भरे नेत्रों से यह सब देखा और खिड़की से भारी मन लेकर हट आई। गावतकिए पर निढाल होकर पड़ रही किन्तु मन भटकता रहा।

माँ के धीरज पर चोट पर चोट पड़ने लगी। समधिन का चाँद-

सूरज सा लड़का कभी न लौटने की बात भूलकर, अपनी प्रिया से बेमन हो और उसे परदेस में अकेली, निरवलम्ब भटकने के लिये छोड़कर एक दिन सांझ के झुटपुटे में घर लौट आया। सुबह के भूले को सांझ को घर आने पर माँ ने हाथों हाथ लोक लिया, उस अभागिन के विषय में पूछा तक नहीं जो भुलावे में पड़कर अनमोल तन-मन पर दाग़ लगाने इसके साथ चली गई थी। नैना को फिर पाने के लिये पति—परमेश्वर मचलने लगे, समधिन ने कई बार कहलाया, एकाध बार उनके चाँद-सूरज धरती पर उतर कर नैना के घर आए भी पर माँ की ज़िद टस से मस न हुई। नैना को फिर उस जमलोक में भेजने को वह हामी नहीं भर सकीं। हताश होकर समधिन ने अपने सुलच्छन पूत का दूसरा विवाह कर लिया, कन्याभारग्रस्त एक और पिता ने जान-सुनकर भी अपना बोझ उतार कर आराम की सांस ली।

वैधव्य का कठिन भार ढोने के संबलस्वरूप पति द्वारा छोड़े हुए रुपयों से नैना की माँ एक काम बराबर करती थी, प्रतिवर्ष गर्मियों में अपनी बहन के पास रानीखेत ज़रूर जाती थी। वहाँ उसका मन बहल जाता था, नैना को भी हमजोली मौसेरी बहनों के साथ अपना सूनापन बिसरा रहता था। समय के साथ-साथ उसके तन-बदन पर जवानी की चाँदनी उतर रही थी, देखने वालों की आँखें फिसल जाती थीं। स्वयं उसकी माँ के मन में रूप की वह कनी गड़ती थी, एक ओर जहाँ वह इस सौन्दर्य सिन्धु को लेकर अहर्निश शंकित रहती थी वहाँ रात के शान्त क्षणों में दबी हुई निःश्वास भी उसके हृदय से निकल पड़ती थी। रुपए उसके समाप्त हो रहे थे, वय वार्द्धक्य की ओर बढ़ रही थी। नैना की भरी जवानी, उसे अभी लम्बी राह तय करनी थी। माँ बेटी की भावी सुरक्षा के प्रति व्यग्र थी। उसने एक दो जगह विवाह की बात चलाई किन्तु उन परिवारों की मर्यादा आड़े आई। लड़की पति-परित्यक्ता

है, कौन जोखिम मोल ले!

माली खा-पीकर मूंज की निखरहरी छपरखट पर पौढ़ गया था और मालिन उसकी गुड़गुड़ी ठीक कर रही थी। उसकी बेटी दुलखिया अंचरा में ढेर-सा कोइना बटोर कर लाई थी, माँ के सामने भरभराकर गिरा दिया। माँ ने गुड़गुड़ी का पानी गिराते हुए कहा—पठिया तौ होय गईलू। बियाह होत त चार लरिकन क मतारी भइल होतू। देखत हउआ एकर लच्छन? हमार जिउ जर जाला। अरे, अंचरा तौ सम्हार घसकटनी!

जी चाहे जितना जले, माँ ने स्नेहभरी दृष्टि से उसे देखा। दुलखिया निहाल हो गई।

पिता ने कोहनी के बल उचकते हुए, दुलखिया को इधर-उधर करती देखकर, धीरे से मर्म भरे स्वर में कहा—चार लरिका त अबहीं तोंहके नाहीं भइलन, ओके का होइहैं? अबहीं त तोहरै उप्पर जोबन बरसत हौ! काहे दुलखिया के अम्मा!

मालिन ने उसी समय चिलम पर फूंक मारी, राख उड़कर माली की आँख में पड़ी। रस-लोलुप मन बुझ गया, मुँह से निकला—धत्तेरी की!

नैना पर तब यौवन खिल रहा था। मन रुई के फाहे-सा उड़ा-उड़ा फिरता था—गन्धसिक्त! दिन सोने के थे, रातें चाँदी की! मौसी के घर में शीशे के सामने खड़ी हो वह घंटों श्रृंगार करती, किसी दिन किसी घड़ी शायद कहीं मन का मीत मिल जाय! नहान-घर में वस्त्र उतारने पर वह स्वयं ही अपने शरीर पर मुग्ध हो जाती। लाज भी लगती उसे, जल्दी से नहा-धोकर कपड़े पहन लेती। उसकी निज की आँखें भी अपने रूप पर ठहरने का साहस नहीं कर पाती थीं। माँ को उसकी वयगत, रूपगत साधों की पूर्ति की चिन्ता कम, उसके भावी जीवन

को चिन्ता स्वभावतया अधिक थी। ऐसे में मिले एक दिन लालाजी। गर्मियों में सम्पन्न और साधनयुक्त लोगों के स्वास्थ्य-सुधार का बहाना लेकर वह भी रानीखेत आए थे। उम्र ढलान पर थी पर मन जवान था। पत्नी बूढ़ी हो चुकी थी अतः उससे विरक्त-से थे। पैसा पास में ज़रूरत से अधिक था, नैना का भविष्य सुख से बीत सकता था। नैना को अब स्मरण नहीं कि कब, कहाँ और कैसे लालाजी ने उसे पहली बार देखा किन्तु देखकर वह देखते ही रह गए थे, उनकी टकटकी बँध गई थी यह नैना को याद है। ढलती वय के रसलोभी मन को एक आधार मिल रहा था। दोनों ओर से प्रच्छन्न प्रयोग आरम्भ हुये—लालाजी ने पता लगा लिया कि नैना को एक भरोसे के हाथ में दे देने में उसकी माँ को आपत्ति न होगी, नैना की माँ को लालाजी की लोलुप दृष्टि के पीछे नैना का भविष्य सुरक्षित लगने लगा था। लालाजी ने प्रयत्न करके एक दिन माँ-बेटी को अपने घर खाना खाने को बुलाया और अवसर देखकर नैना के हाथ के लिए याचना की। माँ तो सौदा करने लगी किन्तु नैना का सपना जनम-जनम के लिए टूटता-सा लगा। नहान-घर में कुतूहल और तन्मयता से देखी हुई अपनी मांसल देहयष्टि उसे एक-बारगी ही ठठरियों का आल-जाल लगी। श्रृंगार उसका मुँह चिढ़ाने लगा। शीशे का मन चूर-चूर हो गया। माँ की चिन्ता विजयिनी हुई, नैना की कल्पनाएँ लालाजी के नीड़ में बसेरा लेने को बाध्य हुईं। आज कितने ही वर्ष बीत गए हैं, जवानी ने वय की राह पर चलकर कुछ और दूरी तय कर ली है। कल्पनाओं-कामनाओं ने अपने अस्तित्व से समझौता कर लिया था, वह व्यतीत को भूल रही थी, भूल गई थी किन्तु उस दिन वन्दना ने अपने सिन्दूर के गौरव से उसे फिर कुरेद दिया!

दिन ढल रहा था। तीसरे पहर की गर्म हवा में आम और महुए के पेड़ पत्ते हिला-हिला कर सड़क पार ढोरों को अपनी छाँव में बुला

रहे थे। माली ने छपरखट उठाकर मड़ैया से टेक लगाकर खड़ी कर दी थी और अरुई के पत्ते तोड़ रहा था। पच्छिम की ओर गिरते सूरज ने एकाध किरणें खिड़की की राह नैना की कोठरी में फेंक दीं, दीवान पर निढाल पड़ी नैना के माथे पर पसीने की बूंदें चुहचुहा आईं। बेकल होकर पंजे की ओर वह और सरक गई, स्वभावतया ही आँचल उठाकर मुँह पोंछ लिया। इसी समय बिंदिया चटकती-मटकती आई, अभी अभी उसके प्रेमी दरबान ने आते समय उसे गुदगुदा दिया था। मालकिन को दीवान पर अस्तव्यस्त पड़ी देखकर और धूप कमरे में आती देखकर उसके प्रेम के दुर्ग पर जैसे तोप का गोला बरस गया, उछलता हुआ तन-मन सिकुड़ कर इतना-सा रह गया। मालकिन का ग़ुस्सा वह जानती थी, बाघिन से वह लोहा ले लेती पर यह! 'हाय दैया!'—कहकर बढ़ी वह खिड़की बन्द करने। उसे लगा कि भूल से उससे ही खिड़की खुली रह गई, सुकुमार मालकिन अपने से बन्द थोड़े ही करेंगी! उसे दरबान पर ग़ुस्सा आया, वह तो कभी की आ रही थी पर उसी ने रोक लिया। रसबतियाव करने लगा, उसे अच्छा लगा तो रुक गई।

बिंदिया एक पल्ला बन्द कर चुकी थी तभी पीछे पीठ पर नैना के स्वर गड़े—रहने दे बिंदिया!

हाथ रुक गए। सहमती हुई बिंदिया इधर घूमी, डर से हकलाते हुए कहा—मा.... मालकिन!

नैना दीवान पर उठकर बैठ गई। हथेलियों पर मुँह टिका लिया, जैसे सोने के दीवटों पर पुखराज का दिया जल रहा हो! आँखों से मोती ढुलक पड़े, अभिशप्त आंचल से बटोर लिया। बिंदिया काँप कर रह गई, मालकिन की आँखों में उसने आँसू आज तक नहीं देखे थे। उन आँखों की आग से उसका परिचय पुराना पड़ गया था, उनमें पानी भी है यह उसने आज और अभी जाना। एकदम जाकर पाँव के पास बैठ

गई, पूछा—कैसा जी है मालकिन ? लालाजी को बुलवाऊँ ?

भीगी हुई साँस लेकर, आँसुओं से डबडब आँखें बिंदिया के मुख पर गड़ाकर नैना ने कहा—उनके पास इस दर्द की दवा नहीं है रे ! वह क्या करेंगे ?

छिन भर रुक कर उसने एकदम बिंदिया को पास खींच लिया, उसके हाथ कोमलता से पकड़ कर बोली—बेंदी, तू तो औरत है न ! तू इस दरद को समझ सकती है।

बिंदिया आसमान से गिरी। उसकी आँखें फटी रह गईं। उसकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि वह रोए या हँसे। उसके हाथ नैना के हाथ में न होते तो वह वहाँ से पत्तेज़ार भागती, मालकिन का यह पागलपन का दौरा उसके बस की बात नहीं थी। इस अप्रत्याशित सम्मान की कल्पना उसने कब की थी ?

नैना ने वैसे ही रहकर फिर पूछा—बेंदी, तू तो औरत है न ?

बिंदिया ने अकचका कर एक बार अपने को जल्दी-जल्दी देखा, फिर भय से कंपित स्वर में कहा—हाँ मालकिन !

मालकिन ने हाथ छोड़ दिए। एक हाथ से बिंदिया के माथे पर से धोती हटा दी और उसकी सिन्दूर-रेखा पर उँगली फिराते हुये बोली—यह क्या है बेंदी ? क्यों लगता है ?

आश्चर्य पर आश्चर्य ! बिंदिया ने धोती का पल्ला सिर पर खींचते हुए सकुचा कर कहा—सेंधुर है मालकिन ! बियाव होने पर हम लोगों में लगाया जाता है। मरद के मरने पर छुटता है।—कह कर दरबान की प्रणयिनी, पतिवाली बिंदिया भी मन ही मन गर्वित हो ली।

नैना अन्यमनस्क-सी पूछ बैठी—और मैं भी औरत हूँ न बेंदी ? तुम्हारे जैसी ? उस दिन जो आई थीं उनके जैसी ? कि कुछ और हूँ ? बोल न !

स्वर की तीव्रता बिंदिया समझी, जल्दी से उत्तर दिया—हाँ मालकिन, आपौ औरत हैं!

उच्छ्वसित रुदन का आवेग नैना के नयनों में अंगार बनकर झलका। वाणी में आग भरकर बोली—फिर मेरी माँग में मर्द के रहते कोयला क्यों दला गया बिंदिया? मेरी सुहाग की सेज पर काँटे क्यों बिछाए गए? तू कहती है मैं औरत हूँ, फिर मेरे हाथों की मेंहदी सूखने के पहले ही क्यों पोंछ दी गई? मेरी वह लाल-लाल चूड़ियाँ क्यों उतर गईं?

बाँध बह गया था। संयम ने साथ न दिया। नैना फफक कर रो दी। बिंदिया के लिए समय समस्या बन गया। चुपचाप टुकुर-टुकुर ताकती रही। नैना ने भर्राए कंठ से कहा—मैंने सब कुछ भूल जाने की चेष्टा की थी बेंदी, शायद सफल भी हो गई थी। लालाजी के बूढ़े तन-मन के साथ अपनी सुहाग की साधों का समझौता कर लिया था। रूप और वय को जब चारो ओर से घृणा मिली तब पैसों की सुरक्षा में वह घृणा भूलने का आयोजन किया। रखेल को समाज में सम्मान कौन दयावान देगा? न सही सामाजिक प्रतिष्ठा, सोचा था कि सबकी नज़रों से दूर, सबकी पहुँच से बाहर रहकर यह ज़िन्दगी के बचे-खुचे दिन गुज़ार दूंगी। मर जाऊँगी तो धूमधाम के साथ अरथी नहीं उठेगी लेकिन लालाजी की रखेल की लाश कुत्ते नहीं घसीटेंगे। लेकिन यह भी कहाँ हुआ बेंदी, यह सुख भी बिधना से देखा न गया। उस दिन भीख माँगने आईं वन्दना जीजी—कुछ रुपयों की भीख! उनका सिन्दूर पुंछने जा रहा था, उनका सुहाग लुटने जा रहा था। इस दइमारी नैना के द्वार पर, भिखारिन नैना के सामने उस सुहागवती अन्नपूर्णा ने भीख के लिये आँचल फैला दिया और जानती हो बेंदी, उस आँचल में मेरा इतने दिनों का संचित धन, मेरा सब कुछ बटोर ले गईं।

इतनी बड़ी-बड़ी बातें बिंदिया क्या समझती ! मालकिन के आँसू और भर्राए कंठ से और उस भीख माँगने आने वाली के नाम से वह इतना ही समझी कि मालकिन की कोई चीज़ चोरी चली गई है। सहम कर, पास सरकते हुए पूछा—क्या-क्या ले गई मालकिन ? बहुत कीमत का रहा का ?

गहरे लाल क्यूटेक्स लगी उँगलियों के नाख़ूनों पर अँगूठा फिराते हुये नैना ने समझाया—कहा तो बेंदी, मेरा सब कुछ ले गईं। जो ले गईं उसकी क़ीमत रुपयों से नहीं कूती जा सकती। वह तो मेरे अन्तर की निधि थी। फिर एक दिन मैं उनके घर गई। मेरा सारा धन वहाँ बिखरा पड़ा था। जो सम्पत्ति मैं अपने मन में चोर डाकुओं के भय से सम्हाल कर रखती थी वही सम्पत्ति वहाँ मटके मटकियों में, धुएँ से काली दीवारों पर, चूल्हे की राख में और फटे चीथड़ों में अनायास पटी पड़ी थी। मेरा असामान्य वहाँ सहज-सुलभ था। मुझे मोह हो आया बेंदी, वह धन मेरा भी तो हो सकता था ! उस निधि की अधिकारिणी मैं भी तो हो सकती थी ! वह सम्पत्ति मुझे भी तो श्रीमती बना सकती थी ! ऐसा क्यों नहीं हुआ मेरी अच्छी बिंदिया ? मैं क्यों मसल कर फेंक दी गई ?

अच्छी बिंदिया की गोद में मुँह छिपाकर नैना बिलखने लगी, उसका आँचल भीगने लगा। अब भी वह कुछ नहीं समझी। उसका पोर-पोर इस समय अपने प्रणयी दरबान लहजू के पास जाने को मचल रहा था, किस तरह जल्दी यहाँ से छुट्टी मिले और यह सब हाल वह उसे सुनाए ! वह रामायण बाँचता है, हनुमान-चालीसा का सस्वर पाठ करता है, ठहर-ठहर कर चिट्ठी भी पढ़ लेता है, साइत मालकिन की बात का मरम समझ जाय ! उसका पति तो मूरख है, दिन भर आटा-चक्की पर काम करता है और रात को बिंदिया की नंगी छाती पर सिर रख

नाक बजाने लगता है। रस-कस की बात तो लहजू ही जानता है। अपनी घरवाली से छिपाकर वह बिंदिया को सलीमा दिखाने लें जाता है, पर्दे पर जब कुछ ऐसी-वैसी बात होने लगती है तब कैसी ललचाई आँखों से बिंदिया को देखता है! वह मालकिन की बात जरूर समझेगा। तीव्र उत्सुकता में बिंदिया की साँस धौंकनी-सी चलने लगी और उसका वक्ष उठने-गिरने लगा।

कुछ क्षण नीरव बीते। चुपचाप रो लेने पर नैना भी सम्हली किन्तु कंठस्वर अभी भीगा था। कहा—उन्होंने मुझे बहन कह कर पुकारा बेंदी! मेरे अन्दर की प्रताड़िता नारी को जैसे अंधगहन गुफ़ा में साँस मिली। साध एक बार फिर अँगड़ाई ले कर उठ बैठी। मेरा रोम-रोम आनन्द से नहा उठा। स्वर्ग की देवी ने मुझ नरक की राक्षसी को बहन कहा, यह सौभाग्य मेरे लिये अकल्पित था। यह केवल शिष्टाचार ही होता, स्वार्थ ही होता तब भी मेरे लिये अनहोना था। दूर, दूर तक अपने व्यतीत में आँखें फाड़-फाड़ कर देखने पर भी मुझे एक दिन भी ऐसा नहीं दिखा जब किसी ने छल से भी मुझे सम्मान दिया हो। घृणा के उस घटाटोप में वह 'बहन' कह कर पुकारना मेरे लिए ज्योति की रेखा बन गयी। जीजी ने अपने घर पर मुझे जो अपनापा और प्रेम दिया उससे मैं दिवानी हो गई बेंदी, मेरे पांव धरती पर पड़ते ही न थे,। मैं न सही कुछ, उनकी बहन तो हूँ! मुझे कुछ नहीं मिला न सही, जिसने सब कुछ पाया है उसके चरणों में छोटी बहन बनकर बैठ तो सकती हूँ! यही क्या कम है? अपनी तुच्छ सेवा के बल पर यह अनायास सम्मान पाकर मैं फूल उठी बेंदी, मन में एक सपना पालने लगी। तब क्या हुआ, जानती है?

बिंदिया पहले ही क्या जानती थी, जो अब की बात जाने! उसे तो मालकिन की बात सुनते जाना था, इसी में कल्याण है। अपना अंग-

अंग प्रश्न चिन्ह बनाकर बुत बनी बैठी रही। नैना को प्यास लग गई थी, उठी और स्वयं ही सुराही से ग्लास भर कर पी लिया। जब तक बिंदिया उठे-उठे, नैना ने बैठकर फिर कहना आरम्भ किया—तब हुआ यह कि आँधी आई और मैं फिर जड़ से उखड़ गई। किसी निर्दयी ने मुझ झिंझोड़ कर नींद से जगा दिया, सपना टूट गया। सोने की लंका में आग लग गई। देवी ने मेरी पूजा स्वीकार नहीं की। तू समझ सकती है बिंदिया, मुझे कितनी बड़ी चोट लगी? कैसे समझेगी तू, तुझे तो वह साध पालनी नहीं पड़ी, तेरे द्वार पर तो सुहाग अनायास आ गया और तूने हाथों-हाथ उठा लिया। तुझे सपने नहीं सँजोने पड़े। मेरा अंग-अंग फड़क रहा था, रोम-रोम आनन्द और सन्तोष की शतमुखी धाराओं में बहा जा रहा था। जीजी के घर उनका सूखा आतिथ्य पाकर ही मैं धन्य हो गई थी। चली वहाँ से मन में हिलोर ले कर, तभी.... तभी....

उसका स्वर फिर रुआंसा हो आया—जीजी मेरे सामने आँखों में आँसू भरे खड़ी हो गईं बेंदो, और मेरे दिए हुए रुपए मुझे लौटा दिए। पल भर में ही मैं आसमान से गिरी। मैं, समाज से उपेक्षिता, दुनिया की दृष्टि में पतिता, रखैल, सदा-सुहागिनों की सेवा के योग्य भी नहीं! मेरे सम्पर्क में आकर उनका भी असम्मान होगा, उनके सिन्दूर का अगौरव होगा। उनके पति भी लालाजी से कह गए थे कि मेरी भीख वह नहीं ले सकते। उस चोट से मैं तिलमिला गई बेंदी! मैंने पूछना चाहा कि नैना इतनी ही गिरी हुई थी, इतनी बुरी थी तो सब जानते सुनते हुए भी उसके पास क्यों दौड़ी थीं....

बिंदिया को राह मिली, तुरन्त कहा—अउर का? काहे अइलू? कोई बोलावै गयल रहल?

नैना—पर उनकी आँखों से झरते आँसुओं से मैं लाचार हो गई।

उन्होंने कहा—रख सकती तो ज़रूर रख लेती। जब कभी आँचल फैलाने की ज़रूरत पड़ेगी तब अपनी छोटी बहन को न भूलूँगी। तब से एक महीने हो गए हैं बेंदी, उन्हें छोटी बहन की याद नहीं आई। मैं उनको लेकर मन ही मन मरी जा रही हूँ। क्या यह सच है कि नैना के पास कोई अपना फैला आँचल लेकर ही आ सकता है? ज़रूरत लेकर ही नैना के पास आया जा सकता है बेंदी? ज़रूरत से अलग करके, बाँहें बढ़ा कोई उसे बाँध ले अपने में, यह सपना क्या सपना ही रहेगा? उसे अपने औरत होने का मोल कभी न मिलेगा? नारी होने का—माँ की जात का होने का—उसका आत्मगौरव उसकी रुद्ध देहरी पर सिर धुन धुनकर मरता ही रहेगा? बोल न बिंदिया, तुझे भी ज़रूरत न हो तो सुहागिन तू नैना की छाया भी न छुए? यही न!

कमलनाल-सी गोरी-गोरी बाहों की हथेलियों से मयंकमुख ढांप नैना फिर बिलख उठी। खिड़की के बाहर, बगिया की चारदीवारी के पार मैदान में सूरज ने जाते-जाते सोना बिखेर दिया था। नाले के पानी में भागते सूरज की अन्तिम परछांई झलक रही थी। जटाधारी बरगद साधु-सा निर्लिप्त खड़ा था। ढोर जुगाली करते घरों की ओर बढ़ रहे थे, पूछों से पीठ पर की मक्खी उड़ाते जा रहे थे। दूर, गाँव के कुएँ की जगत पर बैठे किसी गोरे ने किसी गोरी को गुहराने के लिए बंसी पर तान छेड़ दी। नैना की सजी-बजी कोठरी में उसके हृदय की भाँति ही अँधेरा घना होने लगा। माली की राममड़ैया सूनी हो चुकी थी, उसके पार से कहीं धुआँ ऊपर उठ रहा था, मालिन रोटी बना रही थी। बिंदिया विकल हुई, लहजू की पारी ख़त्म हो गई, निराश होकर वह क्वार्टर चला गया होगा—रात वाले दरबान ने जगह ले ली होगी। जब तक वह अपने क्वार्टर पहुँचेगी तब तक उसका पनचक्की वाला मरद भी आ गया होगा। आज का दिन अकारथ गया और इधर मालकिन के

आँसू थमते ही नहीं। लालाजी के आने का समय हो रहा है। क्या करे राम—कोई काला कुत्ता भी आ जाय तो उसे साँस मिले। आज ऐसे झमेले में वह कभी नहीं पड़ी। उसने उठकर बत्ती जला दी। नैना ने आँखें ऊपर उठाईं, प्रकाश की किरणें अश्रुबिन्दुओं में झिलमिल कर उठीं। बिंदिया ने बिना कुछ समझे-बूझे हौसला बँधाने के मिस कहा—जाए देव मालकिन, जिउ छोट जिन करौ। सब ठीक होय जाई।

क्या ठीक हो जायगा? तेरा सिर? तू कुछ नहीं समझती बिंदिया। जा भाग यहाँ से—तेरे पास भी औरत का दिल नहीं है। जा, अपना काम कर!—चिढ़कर बोली नैना।

यही तो बिंदिया इतनी देर से चाहती थी! 'अच्छा मालकिन'—कह कर हंफनी लिए हुए चली वहाँ से, परदे के पास रामदीन से टकराते-टकराते बची। ऐसी दृष्टि से उसे देखा जैसे अब वह बलि का बकरा बनने जा रहा हो। पर्दे के पार जाकर खड़ी हो, छाती पर दोनों हाथ बाँध उसने जल्दी-जल्दी दस पाँच गहरी साँसें भरीं और तब मन ही मन मनाते हुए कि उसका चक्की वाला मरद, राम करें, अभी न आया हो, अपने क्वार्टर की ओर चल दी।

रामदीन के आते न आते भूखी बाघिन की गरजन कान में पड़ी—अब आया है, लाट साहब कहीं का! राह देखते-देखते आँखें पथरा गईं।

एक मास के कठोर नियंत्रण के बाद आज नैना आकुल-व्याकुल होकर रामदीन की प्रतीक्षा कर रही थी। वह जानती थी कि वन्दना के यहाँ आना-जाना उसका लगा रहता है, शिवनाथ ने उसे प्रेस में नौकर रखा दिया था इसलिए वह कृतज्ञ है और स्वयं उनकी नौकरी छूट जाने पर भी रामदीन समय निकाल कर उनके घर चला जाता है। वहाँ का कुछ उससे छिपा नहीं। कल इसीलिए उसे बुलाकर नैना ने सहेजा था कि

वह वहाँ से सब हाल जानकर आए और उसे बताए। वह एक-एक क्षण की बात जानने को उत्सुक थी। उस दिन उसके चले जाने के बाद से आज तक उस घर के वातावरण में कितनी हलचल हुई, वन्दना जीजी के रुपए लौटा देने के कारण जो अव्यवस्था अनिवार्य रूप से हुई होगी उसके निराकरण का उपाय क्या हुआ, सब वह जानना चाहती थी। सबसे बड़ी बात—जीजी के दीपित सिन्दूर की लाली—शिवनाथ अब कैसे हैं! कल ही उसे रामदीन से मालूम हुआ कि प्रेस की मशीन के पट्टे में उलझ जाने के कारण शिवनाथ बुरी तरह घायल हो गए थे। बहुत दिन अस्पताल में रहना पड़ा और बायाँ हाथ-पाँव कटाकर घर लौट सके। अपनी वन्दना जीजी के ऊपर उसे करुणा हो आई और आँखों से टप् से आँसू चू पड़े, पता नहीं किसके लिए! अभागा शिवनाथ तो नैना के लिए अनजाना था—उसके लिए, अपने लिए या सिन्दूर से अभिशप्त वन्दना जीजी के लिए, कौन जाने! उन्होंने कहा था—आँचल फैलाने की आवश्यकता होने पर अपनी छोटी बहन उन्हें विस्मृत न होगी! बहन! छोटी बहन! हाय री नैना, मर क्यों नहीं जाती तू? रखैल बनकर तूने अपनी नारी का, माँ का अपमान किया है, अपने अधिकार जनम-जनम के लिए खो दिये हैं। तुझे मुँह पर कोई गौरव भले ही दे दे, तुझे बहन मानकर चलने से बढ़कर विडम्बना किसी के लिये और क्या होगी? पतझर के ठूंठ पर रस बरसाने जाकर तूने स्वयं अपने बसन्त को हाथों से ढकेलकर दूर कर दिया है। चहेती बनकर अपनी चाह का गला घोंट दिया है! अभाव और दीनता की मारी वन्दना भी अपनी दरिद्रता में तुझसे ऊँची है, तेरे सहारे का संबल लेकर वह भी अपनी अप्रतिष्ठा मोल नहीं लेना चाहती। बहन! छोटी बहन! डूब मर तू नैना!

किन्तु अधरों पर वितृष्णा और आँखों में आँसू भरकर, एक अविश्वस-

नीय विश्वास से मारी नैना ने पागल बनकर फिर अंजुरी भर रुपए रामदीन को देते हुए कहा था—यदि वन्दना जीजी स्वीकार करें तो उनके चरणों में छोड़ आना रामदीन! मैं जानती हूँ, मुँह खोलकर माँगने में उनके मन को चोट लगती है। एक दिन देख चुकी हूँ। उनके माँगने को प्रतीक्षा करूँ, यह मुझे सोहता नहीं। उन्होंने मुझे छोटी बहन कहा था, उन्हें मैं छोटी बनते देखूं यह मैं कैसे सहूँगी।? शिवनाथ भाई एकदम लाचार हो गये हैं, जीजी उन्हें लेकर अस्पताल में पड़ी रही हैं। मेरी यह पूजा उनके चरणों में निवेदित कर देना।

शिकार बनने के लिये प्रस्तुत होकर रामदीन आया था। शेरनी को तड़प का वह अभ्यस्त हो चुका था। वहीं धरती पर उकड़ूं बैठ, मैले कुर्ते की जेब से एक थैली उसने बाहर निकाली और उसमें से रुपये निकाल कर दीवान पर एक ओर धर दिये। कहा—सम्हाल लें मालकिन!

किन्तु मालकिन की आँखें लाल हो आईं, क्रोध से काँपते बोली—नहीं लिया न, मैं जानती थी। उन्हें अपने ऊपर बहुत अभिमान हो गया है। जब एक दिन इसी नैना के पास भीख माँगने आई थीं तब यह दर्प कहाँ था?

सोने के पिंजरे में बन्द एक मास का भूखा-प्यासा नैना का घायल मन नई चोट खाकर एकदम बावला हो उठा। मदारी की तलहथी से छेड़ कर जगाई गई काली नागिन-सी फूत्कार छोड़ती वह कोठरी में घूमने लगी। सहसा ही रुक कर पूछा—क्या कहा उन्होंने?

रामदीन को राहत मिली, कहा—बहूजी मेरी कुछ कहना-सुनना कहाँ जानती हैं मालकिन? चुप रहकर वह जितना जहर पीती रहती हैं वह रामदीन क्या नहीं जानता? उनके पास कुछ कहने के लिये बात कहाँ है? उनकी आँखों की गंगा-जमुना से कोई कुछ समझे तो समझे!

वन्दना की प्रशंसा में यह अबूझ रामदीन भी इतना मुखर है! नैना धीरे-से आकर दीवान पर बैठ गई, उत्सुक भाव से पूछा—कुछ तो कहा होगा?

रामदीन नागिन का ज़हर उतरता देख निर्भय हो रहा था, बोला—कुछ नहीं कहा मालकिन! चुपचाप धरती पर बैठी आँसू ढारती रहीं। जब बहुत देर हो गई तो मैं चलने लगा। मेरा हाथ पकड़ लिया मालकिन, पोटली देते हुए बोलीं—रामदीन, उनको मेरा स्नेह का आशीष कहना। उनकी बड़ी बहन हूँ न, मेरा आशीर्वाद उनका अमंगल न करेगा। उनसे कह देना, मेरे पति ने एक दिन सूने में उनका अपमान किया था। अपने मिथ्या गर्व में उनकी महानता को परखने में भूल की थी। उनकी उदारता को भीख कह कर ठुकरा दिया था। वह चोट नैना देवी को नहीं लगी रामदीन, वह तुम्हारे मैनेजर बाबू के आघात पहुँचाने की शक्ति के बाहर हैं। वह चोट यहाँ, सीधे मेरे हृदय पर लगी है रामदीन! जिसके पास उनकी दया माया बूझने की आँखें नहीं हैं, जो उनके ऊपर के आवरण के अन्दर दुबका दिल नहीं पढ़ सकता, जो उनके उत्सर्ग भरे हृदय का मोल नहीं लगा सकता उसके ही काम में उनका दिया हुआ रुपया लगाऊँ! मेरा नसीब तो जला हुआ है ही रामदीन, मुझे तो यह सब जब तक जियूंगी तब तक सहना है। जिसे बहन कह कर एक बार पुकारा है उसे अपने ही हाथों छोटी न बनाऊँगी। यह मुझसे न होगा।

तोते की तरह रटा हुआ एक-एक अक्षर रामदीन ने उगल दिया और निवृत्ति की साँस ली। मालकिन से कुछ और सुनने के लिये जब उसने आँख उठाकर देखा तब सहम गया। नैना वैसी ही बैठी थी, दोनों हाथ घुटनों के बीच में थे, मुख पर एक अनदेखी ज्योति उतर आई थी, आँखें बन्द थीं और उन मुंदी आँखों से पानी बह-बहकर गोरे कपोलों पर काजल की हलकी काली रेखाएँ बनाते हुए उसके लांछित अंचल में

रिस रहा था। नैना की यह मूर्ति रामदीन के लिये नई थी—बाघिन रोने पर क्या ऐसी ही लगती होगी? उसका साहस न हुआ कि वह अश्रु-गद्गद् तन्मयता भंग करे, वह भी ठगा-सा, आश्चर्य का मारा-सा, अपलक बैठा रहा। बहुत देर बाद नैना ने आँखें खोलीं, डबडबाए नयनों का रुका हुआ जल एकबारगी ही छलक पड़ा। अथाह, अगम, अमाप सागर में निरवलंब डूबती हुई-सी उसने कहा—मैं बड़ी अभागिन हूँ रामदीन! जनमते ही गला घोंटकर माँ ने मार डाला होता तो वही अच्छा होता!

रामदीन—मालकिन! यह सब आप क्या कह रही हैं?

नैना ने उबरने की चेष्टा-सी करते कहा—ठीक ही कह रही हूँ रामदीन! घर-द्वार, महल-मकान, नौकर-चाकर, धन-वैभव, मान रखने वाले लालाजी, यह सब कुछ तो मेरे काम नहीं आए! जब तक बेहोश पड़ी सो रही थी तब तक सब ठीक था, जीजी के माथे के सिन्दूर ने मुझे कोंचा देकर जगा दिया। जाग जाने पर तो सब व्यर्थ हो गया। उस पुकार पर पागल बन कर मैं दौड़ी। अच्छा रामदीन, उन्होंने मुझे बहन कहा था न?

प्रशंसा पाने के लोभ में हौंस से उमगते हुए रामदीन ने उत्तर दिया—हाँ मालकिन, कहा कि जिसे बहन कह कर मान लिया है उसे अपने हाथों छोटी नहीं बनाऊँगी।

नैना—भूल तो नहीं रहा है? ठीक याद है न?

रामदीन छाती फुलाकर बोला—ठीक यही कहा था मालकिन, खूब याद है।

नैना ने गर्व से भरकर कहा—वह बहुत ऊँची हैं रामदीन। वह देवी हैं।

रामदीन जब चलने लगा तब नैना ने वह रुपयों वाली पोटली उसको देते हुए कहा—तेरी बूढ़ी माँ है न! उसको इन रुपयों से दूध पिलाना।

इस सदाशयता से रामदीन घबरा गया। इतने रुपये तो ज़िन्दगी भर काम करके भी वह नहीं कमा सकता। नैना कहीं पागल तो नहीं हो गई। भयभीत बोला—मालकिन!

उत्तर में नैना ने आँखें तरेरीं—रामदीन समझ गया कि मालकिन के किसी काम पर क्यों और कैसे जैसे व्यर्थ के प्रश्न नहीं उठ सकते।

रात एक-दो पहर जा चुकी थी। घर में, दुछत्ते पर, बगिया में, सड़क पार, सब ओर मौत का सन्नाटा छाया हुआ था। रात वाला दरबान और लालाजी का ख़ास नौकर बेनी, दोनों फाटक पर बैठे ऊँघ रहे थे, लालाजी अभी आए नहीं थे। पानी बरसने की आशा में मेंढक बोल रहे थे। बादल घिरे थे, हवा बन्द थी, ऊमस बहुत थी। उजेला पाख होने के कारण बादलों में से छनकर मटमैली चाँदनी छत पर बिखरी हुई थी। नैना अनमने मन से उठकर रेलिंग के पास आई और बहुत देर तक खड़ी उसी मटियाली चाँदनी में अपना खोया सपना आँखें फाड़-फाड़कर ढूंढती रही। माली की राममड़ैया में डेबरी जल रही थी—टाट के फटहे परदे के उस पार दुलखिया शायद सो रही थी, इस ओर छपरखट पर माली और मालिन दीन-दुनिया की सुधबुध भूल नींद में माते पड़े हुए थे। नैना वहाँ से हट गई। इसी शहर में, थोड़ी दूर पर उसकी वन्दना जीजी हैं! वह भी इस समय अपने सुहाग को लेकर....

नीचे पोर्टिको में लालाजी की दो घोड़ों की जोड़ी आकर रुकी।

थोड़ी देर बाद, सोने की दंत खोदनी से दाँत खोदते हुए जैसे कोई भूली बात याद आ गई हो, लालाजी ने घृणा से मुंह बिचका कर कहा—आज मुंशी दिलकश की बीवी ने गले में फांसी लगा ली नैना!

नैना मसहरी उठाकर पलंग पर जा रही थी, रुक गई। घूम कर बोली—फांसी तो गले में लगती ही है। पाँव में तो कोई फांसी लगाता नहीं!.. कौन मुंशी दिलकश?

लालाजी झेंप गए, हँसकर कहा—अरे वही, जिनको पंडित शिवनाथ की जगह रखा है। भले आदमी हैं बिचारे! उतनी कम तनख्वाह में मान गए। प्रूफ़ भी अच्छा देख लेते हैं। आदमी काम के हैं।

नैना ने पलंग पर जाकर मसहरी दबाई और फिर लेटकर पूछा—क्यों? फांसी क्यों लगा ली? कहीं प्रेम-व्रेम हो गया क्या?

लालाजी ने होठों के किनारे मूछों पर जीभ फिराई, फिर एक बार सटक खींच कर उत्तर दिया—पहले मैंने भी यही सोचा था। तुम जानो, इन औरतों की माया वही जानें, भगवान भी पनाह माँगते हैं तुम लोगों से। एक बार बना चुके हैं, अब माथे पर हाथ धर कर पछता रहे होंगे।—अपने मज़ाक पर लालाजी स्वयं ही प्रसन्न हो उठे।

पर नैना ने तीखे स्वर में कहा—आपसे जो पूछा है वही बताइए न! भगवान को आपकी दया नहीं चाहिए।

सिटपिटा गए लाला कृष्णसहाय! दिन भर प्रेस में शेर की तरह दहाड़ने वाला एक कबूतरी से परास्त हो जाता था। उनका मज़ाक बुझ गया, असली बात पर आए—लिखने पढ़ने के शौक़ीन, आर्टिस्ट किस्म से आदमी हैं मुंशी दिलकश। घर में बीबी है, दो लड़कियाँ और एक बूढ़ी माँ। जो कमाते हैं उससे ख़र्च पूरा नहीं पड़ता। वह तो अपने में ही मगन, बीबी कुढ़-कुढ़ कर जान दिए देती थी। इन दोनों लड़कियों का क्या होगा, बेवा हो जाने पर वह क्या खायगी? इधर एकाध महीनों से बड़ी लड़की बहुत बीमार थी, कल बिना पथ्यपानी के मर गई। माँ तो दमे की मरीज़ है ही, छोटी लड़की भी इधर तीन-चार दिनों से बुख़ार लेकर पड़ी है। दिलकश की बीबी ने बहुत ढारस अपने को बँधाया, आख़िर कहाँ तक अपने से लड़ती? आज उसने दिलकश की लिखी किताबें जमा कीं, पूरे-अधूरे पन्ने बटोरे और कुढ़ कर उनमें आग लगा दी। और उसके बाद ख़ुद भी गले में फन्दा लगाकर झूल गई। दिलकश को दो-दो सदमा पहुँचा, एक ओर बीबी की

मौत, दूसरी ओर अपने आर्ट की मौत! कौन सदमा बड़ा है यही नहीं तय कर पा रहे हैं।

नैना के मन में एकदम वन्दना जीजी उभर आईं, न जाने क्यों! एक आशंका से वह उन्मथित हो उठी। उसकी समूची देह सिहर रही थी, काँप रही थी। बड़ी देर तक मन के इस ऊहापोह को लेकर वह व्यस्त रही। अन्त में इस यमयातना से जूझने में अपने को असमर्थ पाकर वह रो दी। तकिया भीगने लगा। भीगता रहा और भीगी रात भी आगे सरकती रही। बहुत देर बाद उसने अश्रुस्नात् वाणी से कहा धीरे से—सो गए क्या?

लालाजी ने करवट बदली—हाँ, नींद आ रही है।

नैना—मुझे कहीं ले चलिए। यहाँ मेरा दम घुट जायगा। मैं अब एक पल भी यहाँ नहीं रह सकती। कल ही चलिए। मेरा मरा मुँह नहीं देखना चाहते तो....

लालाजी ने बात काटकर पुकारा--नैना!

नैना—हाँ, मैं कहती हूँ कि मुझे यहाँ से दूर ले चलिए। यहाँ की साँस में घुटन भरी है। मैं यहाँ मर जाऊँगी।

लालाजी को 'हाँ' कहना पड़ा। वह कुछ समझे नहीं किन्तु नैना की सनक के आगे उनकी समझ सदा मात खाती रही है। उन्होंने निश्चय कर लिया कि यहाँ का कामकाज गिरधारी को—पुत्र को—सहेज कर वह कल नैना को लेकर जायेंगे।

नैना ने विश्वस्त हो, प्रार्थना में हाथ जोड़ लिए। मन ही मन कहने लगी—जा रही हूँ जीजी तुम्हारी पवित्रता की छाया से भी दूर! पर जहाँ कहीं भी रहूँगी, तुम्हारे द्वारा दिया हुआ चेतना का वरदान नैना के पास सुरक्षित रहेगा। तुमसे जाने के पहले मिलूंगी भी नहीं, मेरे अपमान और तुम्हारे मान को उससे चोट लगेगी। किन्तु नैना के मन में वन्दना

जीजी का आसन ऊँचा—बहुत ऊँचा रहेगा। मालूम नहीं भगवान मेरी जैसी स्त्रियों की गुहार सुनते हैं या नहीं लेकिन अगर मेरे मन में मैल नहीं है तो ऐसा करो भगवान, कि मेरी वन्दना जीजी को कभी, किसी के आगे आँचल फैलाने की ज़रूरत न हो। मेरा कोटि-कोटि प्रणाम स्वीकार करो जीजी !

और, दोनों हाथ जोड़ उसने माथे से लगा लिए। नयन रिसते रहे। रिसते रहे।

दस

माँ-बाप ने नाम रखने में दूरदर्शिता से काम लिया था—कृष्णा अपने नाम के अनुरूप थी। बात-बात में उसका मुखारविन्द छत्तीस कोने में बँट जाता था और हर कोने का अर्थ लगाने जाकर आदमी उसमें खो जाता था। मोटी थुलथुल देह, तिलकुट-सी काली जिसे वह हलका साँवला रंग कहती, मोटी-मोटी भँवें, मोटे होठों पर फैली नाक के नीचे रोएँ, ढोढ़ी के नीचे मांस के आधिक्य से दूसरी ढोढ़ी बनती हुई और मोटे-मोटे हाथ-पाँव—अच्छी खासी मकुनी हाथी का डीलडौल उसने पाया था। उस पर माँग पट्टी से संवर, आँखों में काजल और होठों पर लिपस्टिक लगाकर जब वह बैठती तब वह रूप चौबाला होकर देखने वालों को लुभाता था। होटल के कमरे में सामान पहुँचने के साथ ही वह बेयरा पर किटकिटायी—कमरे में यह अन्धा शीशा क्यों लगा रखा है, इसमें किसका मुँह दिखेगा ? तुम्हारा या मेरा ? बेयरा ने कहना चाहा कि आपका मुंह दिखने लायक शीशा अभी ईजाद नहीं हुआ, पर नौकरी की बात थी, चुप लगा गया। काले-काले होठों पर लाल-लाल लिपस्टिक—टिकिया में लगी हुई आग की कल्पना से किसी तरह हँसी रोक वह कमरे से बाहर भागा।

श्रीमती कृष्णा के छत्तीस कोने के मुख में—मुख.रविन्द में—एक ही चीज़ ऐसी थी जो दूर से ही आकृष्ट करती थीं। वह थी उनकी आँखें। थिर रहना तो वह जानती ही न थीं, बावली-सी चारों ओर भरमा करती थीं। उनमें असाधारण चमक थी, बाँकपन था और एक क्षण में ही आदमी के भीतर बाहर का सब कुछ पढ़ लेने की क्षमता थी। घनी बरौनियों से अधमुंदी उन आँखों में अपने शिकार को बेकस कर देने की अपूर्व शक्ति थी। उन आँखों के जादू का मारा हाथ-पाँव डाल कर निढ.ल हो जाता था। अपनी इस सामर्थ्य का उपयोग अपने व्यवसाय में उसने बराबर किया था और कभी हार न उठायी थी। बम्बई का व्यवसाय टूट जाने पर और जीवन में पहली बार पुलिस का भय पाकर वह पतिदेवता का संबल लेकर यहाँ चली आई थी। उसे दुख था, इतने वर्षों का जमा-जमाया उसका रोज़गार ज़रा सी बात पर टूट गया। कुछ लेन-देन का मामला था। वर्ली के जिस क्षेत्र में वह काम करती थी वहाँ बदल कर एक नया थानेदार आया। वर्षों से बँधा हुआ नज़राना उसे कुछ कम लगा, उसने अधिक की माँग की। कृष्णा ने आनाकानी की, नतीजा यह हुआ कि एक दिन पुलिस आ धमकी—ऐसे समय जबकि उसके गाहक वहाँ मौजूद थे। लाचार होकर कुछ दे-दिलाकर उसे मामला रफ़ा-दफ़ा करना पड़ा पर यह निवृत्ति क्षणिक थी, जाते-जाते वह थानेदार मासिक बँधी रक़म में दुगने की बढ़ौती का संकेत कर गया, नहीं तो परिणाम के लिये कृष्णा प्रस्तुत रहे। उसके वकील ने आश्वासन दिया कि उसके ऊपर कोई मामला-मुक़दमा नहीं चल सकेगा, कोई लड़की-औरत उसने उड़ाई नहीं थी, खरीदी-बेची न थी। उसके चकले में आने वाली स्त्रियाँ अच्छे अच्छे घरों की थीं, सेठानियां और पढ़ी-लिखी बबुआइनें, कालेज और स्कूलों की छात्राएँ, मास्टरानियाँ। सब अपनी मर्ज़ी से आती थीं, तेरह से तेंतीस तक की। गाहक भी उसके सेठ साहूकार, आँवाँ का आँवाँ बिगड़ा हुआ था—कौन किसकी

शिकायत करने जाता? अपने-अपने घरों की उघरती लाज दबी-ढँकी देखने के लिए सब प्रयत्नशील होंगे, पुलिस का पेट भरेगा और बात आई-गई हो जायगी। हाँ, कृष्णा थोड़े दिनों के लिए यहाँ से हट सके तो अच्छा ही है।

संकट के समय बहुत दिनों के भूले-बिसरे लोग अनायास याद आते हैं किन्तु कृष्णा के कर्तब ऐसे कि कौन उसे मुँह लगाए। तब उसे याद आए पतिदेव जिसे उसने कई साल से मन के कूड़ा-करकट के ढेर में एक ओर फेंक दिया था। उसने जतन से कुरेद कर उन्हें वहाँ से निकाला, धूल-कीचड़ झाड़ी और तार देकर यहाँ चली आई। आने के बाद कुछ दिनों तो वह बहुत बुझी-बुझी रही, कुछ अच्छा न लगता था। संध्या होते ही उसे वर्ली वाले घर की चहल-पहल बुलाने लगती, रात के ग्यारह-बारह बजते न बजते उसकी हथेलियाँ खुजलाने लगतीं और वह रुपए गिनने लगती, फिर झुंझला कर नरेश पर किटकिटा उठती। धीरे-धीरे दिनों के साथ उसका यह पागलपन दूर होने लगा और उन खोई-खोई सी आँखों में एक नई चमक, नई ज्योति झलकने लगी। बुझते मन में एक नया विश्वास, नया बल घर करने लगा। नरेश के साथ दो चार बार वन्दना के घर जाकर उसकी समझ बूझ वाली आँखों ने परख लिया कि अभाव और दैन्य की मारी यह अपरूप रूपवाली युवती सहानुभूति के दो बोल की भूखी है। अनुभवी अभ्यस्त मन ने यह भी बूझ लिया कि उसके पति नरेश को लेकर शिवनाथ की नपुंसक ईर्ष्या वन्दना के लिये भारी हो रही है। यह भी वह जान गई कि इधर एक मास से घर का सम्पूर्ण व्यय-भार उसके पति ने अपने कन्धों पर उठा लिया है, न चाहते हुए भी अक्षम शिवनाथ इसीलिये चुप है और चाह कर भी वन्दना नरेश को स्वयं चले जाने को नहीं कह सकती। वन्दना को अपनी चिन्ता नहीं, वह भूखी-प्यासी सो रहेगी किन्तु दुर्वासा-पति की रोगक्लांत मरी

देह नरेश के चले जाने पर एक पल भर भी टिकी न रहेगी। यही उसकी व्यथा है, यहीं उसकी विवशता है। यहीं शिवनाथ लाचार है, यही उसकी दुर्बलता है।

कृष्णा के मन की राक्षसी ने उसे फिर उकसाया, यदि वन्दना का सौन्दर्य उसके बस में हो तो वह बनारस को ही बम्बई बना ले। एक बार फिर उसका भाग्य चमक उठे। आसमान से सोना बरसने लगे। धीरे-धीरे और सरंजाम भी जुटने लगेंगे। आदमी तो सब जगह एक ही है, उसकी हविस---सौन्दर्य और यौवन छिपकर पाने की हौंस—बनारस हो, बम्बई हो या विलायत, सब जगह समान है। नारी के तन से खेलने की ललक लंका में भी ऐसी ही है। कृष्णा नई संभावनाओं की कल्पना में मगन रहने लगी और सतर्कता से, धीरे-धीरे, डरते-डरते वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति की ओर बढ़ने लगी। शिवनाथ की नपुंसक ईर्ष्या, वन्दना की ऐच्छिक विवशता और नरेश की निश्छल सेवा, तीनों को उसने अपने स्वार्थ के अस्त्र बनाए। चारों फाटक की लड़ाई लड़ने का उसने मन ही मन निश्चय किया—तरकस का जो भी तीर ठिकाने पर बैठे, उसे अपना शिकार मिलने का दृढ़ विश्वास था। शिवनाथ की असमर्थ चेतना को जगाने का एक ही उपाय था कि वन्दना की ओर से उसके ईर्ष्यालु मन में और भी आग सुलगाई जाय। वन्दना को समय-असमय बाहर की दुनिया की रंगीनियों और प्रलोभनों में उलझाया जाय और इसप्रकार उसके सतीधर्म की अहंताको चोट पहुँचाई जाय। लगातार आघात पहुँचते-पहुँचते एक दिन वह लाचार हो जायगी, टूट जायगी। नरेश का तो वह जीना दूभर कर देगी, उसके रहते अपनी कमाई के रुपए दूसरी नारी पर लुटाने वाला वह कौन होता है!

अपने तरकस के सब तीर हृदय के विष में बुझाकर वह दिग्विजय करने निकली। शिवनाथ के अकर्मण्य अविश्वास को निरन्तर बल देते रहने के लिए उसका अधिक से अधिक विश्वास प्राप्त करना आवश्यक था,

अधिकाधिक नैकट्य से ही वह अपने गर्हित उद्देश्य में सफल हो सकती थी। इसका अव्यर्थ, अचूक उपाय था उसके अक्षम आत्मविश्वास से खेलना, उसके अपौरुष को महानता की चादर उढ़ाकर उसे भुलावे में रखना और उसकी सेवा के मिस अपने सौभाग्य को सराहने का नाट्य करना। आरम्भ में शिवनाथ को यह कुछ अच्छा नहीं लगा किन्तु कृष्णा अपने लाड़-प्यार में बढ़ती ही गई। उसने शिवनाथ की एक नस और दबाई। नरेश अपने और वन्दना के बीच अब शिवनाथ के माध्यम की आवश्यकता नहीं समझता था, शिवनाथ को यह हीन भाव सदा-सर्वदा टीसता रहता था। कृष्णा प्रत्यक्ष में इतना आगे कभी नहीं बढ़ी कि शिवनाथ उसे अपने और वन्दना के बीच दीवार-सी समझने लगे। वह ऊपर से तो एक सीमा रखकर ही निकट जाती किन्तु उसकी इस सतर्कता और कूट ने शिवनाथ के दुर्बल मन में सीमा नहीं रहने दी। वन्दना को साम, दाम, दण्ड, भेद—किसी विधि छुट्टी न देने के लिये निरन्तर उद्यत शिवनाथ की नरेश के प्रति उन्मुख ईर्ष्या जब यह देखती कि उसी नरेश की पत्नी उसकी इतनी खोज सम्हाल रखती है, बच्चे-सा उसे बहलाये रहती है, उसके अनस्थिर और दुर्बल विश्वास को सहारा देकर आगे बढ़ाती रहती है तब उसे एक प्रति-हिंसक सन्तोष होता। वन्दना अपनी सेवा के विश्वास को लेकर निश्चिंत थी, छल का यह अभिनय उसने समझा ही नहीं। भगवान की बात तो वह नहीं जानती, कहीं किसी और छिद्र से उसके सुहाग-व्रत को खंडित करने वाला कर्दम इस घर की देहरी के भीतर पाँव रख सकता है, यह कल्पना उसने कभी पाली ही नहीं। घृणा उसने कभी किसी से नहीं की। जब उसके मन के स्नेह का मोल कोई नहीं चुका सकता तब किसी से घृणा करने जाकर वह अपने को स्वयं ही ओछी लगने लगती थी। कृष्णा से भी उसने घृणा नहीं की किन्तु न जाने क्या बात है कि पहले ही दिन माँग पट्टी से सजी-बजी, छतीस कोने का मुँह बनाकर आने वाली कृष्णा को देखकर उसे

उबकाई आने लगी। नरेश के मन में लड़कियों के प्रति जागी प्रतिहिंसा के लिए उसे सहानुभूति हो आई—पल भर के लिए। वही उबकाई पैदा करने वाली श्रीमती कृष्णा उसके जीवन में किस दुरभिसन्धि का ताना-बाना बुन रही हैं, वह इससे अनजान थी।

पौ फटने के पहले कुछ बूंदें गिरी थीं। बिछावन उठाकर जल्दी से कोठे पर से भागना पड़ा था। शिवनाथ तो एक पाँव से लाचार थे, ऊपर चढ़ पाने में असमर्थ होने के कारण कोठरी में ही सोते थे। किन्तु वन्दना, जब तक बस चले तब तक, खुले आसमान के नीचे, तारों के चंदोवे के नीचे सोना चाहती थी। एक बाल-हठ, एक सपना अब असंभव हो जाने पर भी उसे बाँधे रहता था—यामिनी के अंचल से टूटकर गिरते तारों को अपने अंचल में समेटने का सपना!....बूँदें बरस कर निकल गई थीं, और समय पर धूप निकल आई थी। वन्दना ने बिछावन फिर ले जाकर ऊपर सूखने को डाल दिया था और खाना-वाना बनाने में लग गई थी। उसे ध्यान भी न रहा कि ऊपर कपड़े पड़े हैं– आकाश के एक कोने से फिर बादल उठे और पच्छिम की ओर बढ़ने लगे। घटाटोप अंधियारा हो गया। जब तक वन्दना हाथ का सूप एक ओर फेंक ऊपर दौड़े, मूसलाधार पानी बरसने लगा। वेगवती हवा घरों के छाजन खड़काने लगी। सहायता के लिए नरेश भी भागा-भागा ऊपर दौड़ा। कृष्णा को साँस मिली, वन्दना के पास इतनी देर से बैठी वह ऊबने लगी थी। उसका मन शिवनाथ के पास जाने को छटपटा रहा था। अब उठकर कोठरी में आई। शिवनाथ कब से मन ही मन फूल रहा था, बहुत देर से बाहर से नरेश, वन्दना और कृष्णा के स्वर उसके कानों में आ रहे थे। वह चारपाई पर ही उचक रहा था, मन की घुटन बाहर आने को उकसाती थी किन्तु अवश था। कृष्णा को अकेली आती देखकर उसका व्यर्थ अहं हिचकोले खाने लगा, नरेश और वन्दना के एक साथ अकेले होने की कल्पना ने उसकी ईर्ष्या को फिर ठोकर

दी, तिलमिला कर पूछा—वन्दना कहाँ है? देख नहीं रही है कि कपड़े बरस रहे हैं, पानी भींग रहा होगा!

कृष्णा ने हँसकर उसकी तकिया ठीक से लगाई फिर कहा—कपड़े बरस रहे हैं और पानी भीग रहा है, कह क्या रहे हैं शिवनाथ बाबू?

शिवनाथ ने भूल समझी, सुधारा—मेरा मतलब है कि...कि...

कृष्णा ने चटाई पर बैठे हुए कहा—कि पानी बरस रहा है और कपड़े भीग रहे हैं। काश, यह बहार आप उठकर देख सकते शिवनाथ बाबू! यहाँ तो कोठरी में खिड़की भी नहीं। यह बहार बम्बई में देखने में आती है शिवनाथ बाबू! मरीन ड्राइव पर हमारे फ़्लैट की खिड़की खोलकर खड़े हो जाइए, दूर-दूर तक फैले समुद्र की छाती पर मूसलाधार बरसात की बूँदें जब छहर-छहर गिरती हैं तब धरती-आसमान के बीच में एक झिलमिल दीवार खड़ी हो जाती है।

किन्तु उस झिलमिल दीवार की बात से शिवनाथ को मनस्तोष नहीं हुआ, उन्होंने फिर कहा—लेकिन ऊपर कपड़े जो भीग रहे हैं!

कृष्णा—नहीं भीग रहे हैं। दीदी और आपके नरेश बाबू, दोनों ऊपर दौड़े गए हैं।

शिवनाथ ऐंठ उठे। ऐसे समय भी दोनों एक साथ! क्या है यह वन्दना कि एक क्षण नरेश के बिना नहीं रह सकती! कपड़े अकेले नहीं उतारे जा सकते? नरेश को जाने की क्या आवश्यकता थी? ऊहापोह में उनका मन उलझ गया और नाक से एक फूत्कार छोड़ वह चारपाई पर ढह पड़े। तीर निशाने पर बैठा, कृष्णा समझ गई। कुछ क्षण बाद शिवनाथ ने व्यग्र होकर फिर पूछा—अभी आई नहीं बिन्दो! कर क्या रहे हैं वह लोग?

रस लेती हुई-सी कृष्णा रहस्यमय मुसकान के साथ बोली—बरसात होती ही ऐसी है शिवनाथ बाबू! बूढ़ा मन भी जवान हो जाता है। आते ही होंगे।

और एक गाल में दबा हुआ पान जीभ के सहारे दूसरे गाल की ओर करते हुए उसन नहले पर दहला चढ़ाया—बिन्दो दीदी मुझे बहुत अच्छी लगती हैं शिवनाथ बाबू! आप के नरेश बाबू को वह बहुत मानती हैं, वह भी उन पर सर्बस लुटाने को तयार रहते हैं। आदमी ही तो आदमी के काम आता है न! आप बीमार थे, उठ-बैठ नहीं सकते थे, घुटते हुए मन को बहलाने के लिए बिन्दो दीदी को एक सहारा चाहिए था न! फिर नरेश बाबू ही क्या बुरे थे?

शिवनाथ की पंगु देह आँखें बन्द किए हुए शय्या पर पड़ी हुई थी, उनका चंचल मन भटक रहा था। स्त्री दूसरी स्त्री को अच्छी तरह समझती है, उन्होंने अब तक यही जाना था। कृष्णा की बात झूठ नहीं हो सकती। नरेश उसका पति है, वह जब स्वयं उसे लेकर इस तरह का संकेत कर रही है तब सन्देह के लिये स्थान कहाँ है? नरेश और वन्दना के सामीप्य ने शिवनाथ के मन में ऐसी-ऐसी असंभव कल्पनाओं को जन्म दिया, उनकी शिरा-उपशिराओं में ऐसी शंकाओं का तनाव आया कि उस समय वन्दना यदि वह विकृत मुख देख पाती तो डर जाती। शिवनाथ का अन्तर्मन अपने ऊपर ही वितृष्णा से भर गया। क्यों वह अक्षम हुए, क्यों असमर्थ और असहाय हुए? और जब वह चारो ओर से अयोग्य और लाचार थे तब भैया और भाभी ने पकड़ कर क्यों उनका गला इस जुए में फंसा दिया? वह उस कुघड़ी को कोसने लगे जब नरेश उनके यहाँ अतिथि बन कर आया। अतिथि धीरे-धीरे घर का स्वामी बन गया और गृहपति अपने आसन से उतारकर एक ओर रख दिया गया। अपनी स्वारोपित अवमानना के प्रति उनकी विक्षुब्ध टीस वन्दना और नरेश के लिए क्रोध में बदलने लगी और वह उफनने लगे।....आज इन सबका अन्त होगा। आज यह स्थिति समाप्त होगी, आज बिन्दो को

दो में से एक चुनना होगा—नरेश या मैं!

मुंडेर पर से दरी तकिया और शिवनाथ के साबुन लगे कपड़े उतारते-उतारते वन्दना ऊपर से नीचे तक भींज गई। उसका मन—यौवन-सुलभ चापल्य की अनबुझी प्यास से सूखा मन—भी आषाढ़ की इस झड़ी में भींज-भींज गया। उसे याद आया, व्याह के पहले जब वह घर पर तितली-सी फुदकती फिरती थी, वर्षा की पहली फुहियों में ही उसके बाबू सब बहनों के साथ उसे आंगन में नहाने भेज देते। माँ चिल्लाती रहती पर बाबू बरामदे में बैठे बेटियों का यह मगन-मन उल्लास बढ़ाते रहते। हो-हो कर हँसते रहते। आस-पास की और दो-चार लड़कियाँ जुट जाती, एक कहती—मछली मछली कित्ता पानी? सब लड़कियाँ नन्हीं-नन्हीं बाहें पसार परिमाण बताते हुए समवेत स्वर में बोलतीं—इत्ता पानी, इत्ता पानी। माँ कुढ़ कर रसोई में चली जाती, बाबू स्वयं उत्फुल्ल मन, कपड़े उतार, जनेऊ से पीठ की अन्हौरियाँ खुजाते आंगन के उस अखाड़े में उतर जाते। लड़कियाँ उन्हें घेर कर नाचने लगतीं—बीबी मेढकी री तू तो पानी में की रानी! और बाबू सचमुच, जब-तक-पानी बन्द न होता, आँगन में मेढकी-सा फुदकते!

आज कहाँ हैं बाबू? हँसने-खेलने के दिन उसके अनगढ़, उदास पति की टूटी गृहस्थी को बिखरने से बचाने में और अनथक दासी-सी सेवा करने में बीते हैं। नन्हें-से हृदय की उमंग जब कंठ से फूटना चाहती—गीत के मिस, तब नीरस, काठ-से पति के परुष कण्ठ की आज्ञा उसे दबा देती। प्रेम और प्यार और रस की बाढ़ जब उसके हृदय में उठती तब उसे पूछना पड़ता—आज कैसी तबीयत है? फल का रस लोगे या साबूदाना? जब सावन-भादों की फुहारों के बीच उसका मन उन ऊदे-ऊदे बादलों के साथ उड़ना चाहता, गुलाबी शीत में जब उसकी गुपचुप साधें किसी की बाहों में दुबक रहना चाहतीं, जेठ की तपती रातों में

जब वह किसी के कंठ में भुजनाल डाल, चटकीली चाँदनी में श्रमबिंदुओं में भींज पड़ी रहना चाहती तब उसे स्वामी की औषध का समय ध्यान में रखना पड़ता, पथ्य का प्रबन्ध करना होता और भगवान से उनके निरोग होने की, खुली आँखों रात-रात जागकर, भीख माँगनी पड़ती। और अब, वय की अभिज्ञता के साथ जब उसका जूझते-जूझते हारा-थका मन कृतज्ञता के, प्रेम के, सहानुभूति के दो बोल सुनना चाहता है, जब अपने लिए किसी की व्याकुलता, व्यग्रता और विह्वलता पाना चाहता है तब उसे मिलती है पति की—अकृतज्ञ की—सतर्क दृष्टि कि वह पथ से विपथ तो नहीं हो रही है।

नरेश ने नीचे उतर रसोई में ही एक ओर हाथ की दरी–चादर फेंक दी फिर इधर-उधर देखा। कृष्णा को वहाँ न देख सन्तोष की सांस लेता हुआ, कुर्ता निचोड़ते हुए बोला—आप तो एक दम भीग गईं भाभी!

वन्दना के गोरे शरीर से उसके वस्त्र चिपक गए थे, धोती के घेर से ढेर-सा पानी चू रहा था। आंचल वक्ष की सुघराई निखार रहा था। इस भीगी लज्जा को छिपाने के लिए वह शिवनाथ के कपड़े दोनों हाथों से छाती पर दबाए हुई थी। उसने लज्जानत आँखें उठाकर जल्दी से देखा, कहीं नरेश इधर ही तो नहीं देख रहा! किन्तु नहीं, नरेश ने आँख उठाकर देखा भी नहीं। नारी की लाज से बरबस खेलते रहने का अभ्यासी महासती की निरुपाय लज्जा से आँखें न मिला सका, वन्दना को उघरी लाज से अवगत नतानन ही रहा। हँसकर कहा—क्या होतीं हैं औरतें भी! भीग-भूग कर न्यूमोनिया बुला लेंगी पर मर्द के सामने कपड़े निचोड़ तक नही सकतीं, लाज के मारे मर जायँगी। हमारी बम्बई में यह सब नहीं चलता। लाज बची रहे, जान चली जाय तो चली जाय। अच्छा, मैं सीढ़ी पर खड़ा हूँ भाभी, तुम कपड़े बदल लो। लेकिन कहे देता हूँ, हमारे बम्बई में..... भाभी, कपड़े बदल कर एकदम खूब गर्म

चाय पिलानी होगी। एकदम नहा गया हूँ।

कपड़े किसी तरह बदल वन्दना ने पुकारा—नरेश बाबू!

नरेश ने सीढ़ी पर ही अपना कुर्ता और बनियान उतार डाले थे, केवल भीगा पाजामा पहने था। नंगी देह असमय के स्नान से सिहर रही थी। वन्दना ने पूछा—और आप जो भीग गए, सो? पहनेंगे क्या?

नरेश—यह सब बला आप लोगों के साथ ही है भाभी, हम तो ऐसे भी रह लेंगे। कपड़े तो होटल में हैं।

वन्दना ने कहा—देखिए, देखती हूँ। उनका कोई कुर्ता-पाजामा शायद निकल आये।

नरेश के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वन्दना शिवनाथ की कोठरी में गई। एक हाथ आधा काट दिए जाने के कारण उसे शिवनाथ के सब कुर्ते आधी बाँह के करने पड़े थे, पूरी बाँह का कुर्ता कटे हाथ पर झूलता हुआ घिनौना-सा लगता था। शायद कोई फटा-पुराना कुर्ता दोनों बाँह समेत बचा रह गया हो। बक्स खोलने के पहले उसने देखा, शिवनाथ आँखें मूँदे पड़े हैं। एक बार उन्होंने गहरी दृष्टि से उसे देख लिया है और दांत भींच लिये हैं। कृष्णा सिरहाने बैठी माथा सहला रही है। वन्दना ने समझा, दर्द हो रहा है। जी न माना, चारपाई के पास गई और माथे पर हाथ धर कोमल स्वर में पूछा—क्यों, दर्द हो रहा है क्या?

शिवनाथ ने आँखें खोलीं, गुड़हल के फूल-सी लाल दृष्टि से वन्दना को देखा फिर दायाँ हाथ उठाकर उसका माथे पर रखा हाथ झटकार दिया। ऐसा आकस्मिक और अनपेक्षित यह हुआ कि अनुद्यत वन्दना गिरते-गिरते बची! कृष्णा के सामने इस अपमान से उसका मर्माहत मन चीत्कार कर उठा और वह स्तब्ध कुछ क्षण खड़ी रह गई। मुख विवर्ण हो गया, आँखों से चिनगारियाँ छिटकने लगीं किन्तु दूसरे ही क्षण

हिन्दू नारी की युगान्त विवशता पानी बनकर ढलने लगी। कहीं कृष्णा देख न ले, उसकी मर्यादा ने बरसात पर अंकुश लगाया और संयमित, शान्त भाव से वह चारपाई के पास से हटकर बक्स खोलकर कपड़े देखने लगी। कृष्णा छत्तीस घाट का पानी पिए हुए थी, उसकी विजयिनी दृष्टि वन्दना की पीठ पर जाकर गड़ गई। वन्दना ने ढूंढ़-ढांढ़कर एक बहुत पुरानी कमीज़ निकाली और एक पाजामा और जल्दी से बिना किसी ओर देखे कोठरी के बाहर निकल गई। कृष्णा की मुसकान पीछे-पीछे गई।

नरेश कपड़े लेकर सीढ़ी पर बदलने चला गया। अंगीठी पर पानी चढ़ाते समय एकान्त पाकर वन्दना के आँसू नहीं थमे! क्या अपराध था मेरा? कौन सा पाप किया था मैंने? इनके सन्देह को मैं कैसे शान्त करूँ भगवान! मेरे मन में तो खोट नहीं है। नरेश बाबू न होते तो आज इनकी कौन गति होती? अस्पताल से लौट भी पाते या नहीं कौन जाने! नरेश के मन में ही कहीं पाप छिपा है? नहीं, ऊपर भगवान है, एक दिन उसे जवाब देना होगा, झूठी आँच वह नहीं लगावेगी। जब आया था तब एक पाप लेकर आया था पर इतने दिनों में धुलकर वह निर्मल हो गया है। अपना पाप उसने स्वयं स्वीकार किया था—न भी करता तो नारी के नेत्र आदमी के मन की भाषा पढ़ लेते हैं। उसने तब भी पढ़ लिया था और अब भी, इस एक मास से ऊपर की अवधि में वह बराबर इस नरेश को पढ़ती आई है। मुक्त है, मुखर है और सेवा में निश्छल! वन्दना की विवशता का लाभ एक पल भी उसने नहीं उठाया। उस पहले दिन के बाद भूले से भी उसने कभी असावधान वन्दना को स्पर्श तक करने की चेष्टा नहीं की। उसकी निश्छलता को लेकर ही शिवनाथ जलन से तपे जा रहे हैं! उसकी सेवाओं का कोई मूल्य नहीं?—आँसू धाराधार बहने लगे, आँगन में झरती आषाढ़

की बूंदें कड़ी धरती के संस्पर्श से छितरा जातीं, वन्दना के आँसू जलती अँगीठी के पास की तप्त, गोबर से पुती धरती पर छन-से गिरते और सूख जाते। मेघ और कजरारे नयन, दोनों में होड़ लगी थी। वन्दना की निश्छलता ने ही तीन वर्षों में तुम्हारे निकट क्या मूल्य पाया स्वामी! उसकी अहरह सेवाओं का प्रतिदान तुम क्या दे सके? वह नहीं चाहती प्रतिदान किन्तु यह....यह मिथ्या लांछन, यह प्रकट अपमान...यह तीखा तिरस्कार! नयनों की बरसात में वह खो गई।

शिवनाथ के कमीज़-पाजामे में कार्टून बना हुआ नरेश अपने उतारे हुए गीले वस्त्र अलगनी पर फैलाते हुए बोला—हाँ भाभी, अब एक कप गर्म चाय! यह कमीज़ शायद शिवनाथ की छठी के दिन बनी थी, देखो न—पहनने की चेष्टा में जगह-जगह इसमें वेन्टीलेटर्स बन गए!

पीढ़े पर बैठते हुए उसने कहा—कुछ भी कहो भाभी, हमारी बम्बई में....अरे, यह आँसू? क्या हुआ भाभी?

भीगे आँचल से भीगा हुआ मुख पोंछकर वन्दना ने आँसुओं से डबडब अपनी बड़ी-बड़ी आँखें ऊपर उठाईं, नरेश की ओर देखकर पूछा—आपकी बम्बई में भी स्त्री क्या ऐसी ही निरुपाय है नरेश बाबू?

नरेश का दीर्घकालीन अनुभव बोला—स्त्री सब जगह निरुपाय है भाभी, सब जगह उसे मार खानी पड़ती है। सब जगह, सब देशों में वह प्रताड़ित है, लांछित है। समान अधिकार और सुविधा के दावे जो बढ़-बढ़ कर आगे रखती हैं वह स्त्री नहीं हैं, उन्हें समाज में स्त्री-जीवन का पता नहीं है। स्त्री निरुपाय है, अवश है तभी कृष्णा का व्यवसाय चलता है, नरेश का नारी-तन का खेल चलता है। स्त्री मुँह नहीं खोल सकती तभी शिवनाथ जैसों का दुर्बल दावा चलता है। यह आँसू बन्द करो भाभी, इनका मोल किसी के पास नहीं है।

किन्तु नरेश द्वारा मिले हुए नारी के इस परिचय ने वन्दना के आत्म-

ज्ञान को और चोट पहुँचाई, सत्य के इस काले रूप को वह समग्र मन से स्वीकार करते हुए भी कांप गई। अपना सम्पूर्ण अस्तित्व ही उसे व्यर्थ लगने लगा और चरम व्यर्थता के उस क्षण में उसने अपने को निश्चिन्ह कर डालना चाहा। क्या करे वह, कहाँ अपना यह कलंकित मुख लेकर भाग जाय! जिसके लिए अहर्निश, आठोयाम उसके रोम-रोम की सेवा-निष्ठा अर्पित है, जिस मुमूर्षु को आँखों के सामने बनाए रखने के लिए वह स्वयं तिल-तिल कर पल-पल जल रही है, जिसके विश्वास की साधना में उसने अपना तन-मन, यौवन और जीवन सुखा डाला है, जिसके अपाहिज अस्तित्व की रक्षा के लिए जान-सुनकर वह लांछन ओढ़ रही है, उसने ही जब अपने विश्वास से उसे दूर ठेल दिया है, अपने मन-देश से तिरस्कृत कर उसे झटकार दिया है तब वह कहाँ जाय? माँ के आंचल में भी उस अनादृता के लिए ठौर न होगा, बहिनें उसे भार मान लेंगी, बाबू का नेह-भरा हाथ रहा नहीं। चारो ओर से निर्बान्धव उसने एक दिन एक लांछिता नारी का अपनत्व पाया था, उसने बहनापे की बाँह बढ़ाई थी किन्तु स्वामी के कदर्य अहं ने उसे भी द्वार से लौटा देने को विवश किया। और आज जब यह नरेश अपना उन्मुख नैकटच देकर प्राणों को जिलाए रखने में सहायक हो रहा है, उसके पति के अन्दर का आदिम नर कुत्सा से भर उठा है।...नहीं, उससे यह लड़ाई न होगी। थक गई है अब वह! उसे अपने लिए तो कभी कुछ नहीं चाहिए था, वह तो तीन खन्डों-वाले भवन में रहने की साधवाली वन्दना का गला घोंटकर मार चुकी थी, टूटे-फूटे घर की उजड़ी-बिखरी गृहस्थी में उसने अपने मन की राज-कुमारी को तीस रुपये पाने वाले भिखारी की रात दिन सेवा में सर्व-स्वान्त, निःस्व कर दिया था। उस भिखारी की दुर्बल जर्जर काया पर उसे मोह हो आया था और उस मोह को अपने जीवन से भी बड़ा मानकर वह लांछन, प्रतारणा, अकृतज्ञता और तिरस्कार सहकर भी, अपनी

छाती में सयत्न दबाए हुए थी। नरेश के सहायता के लिए बढ़े हाथ को भी वह इसी मन के मोह में झटकार कर अलग नहीं कर सकी। कह देने से वह चला जायगा, वह जानती है किन्तु तब? विकलांग शिवनाथ को लेकर वह दर-दर भीख माँगेगी? रूपवती वन्दना को कोई भीख भी देगा? देगा, अपने रूप और यौवन के अधिकार से वह भीख पायेगी किन्तु देने वाला करुणा से भींजकर भीख नहीं देगा—उसके सौन्दर्य और यौवन का मोल चुकाएगा, उसकी हँसी का, उसके बोलों की बोली लगायेगा। उस स्थिति की कल्पना से ही वह काँप उठती—कैसा होगा वह दिन? जब उसकी साधें, पतिवाली सुहागन की मौन कामनाएँ दुनियाँ के क्रय-विक्रय का साधन बनेंगी? इस विभीषिका को जब तक बने तब तक दूर ही रखने के लिये अनिवार्य गलग्रह की भाँति उसने आरम्भ में नरेश को स्वीकार कर लिया था। एक मास के निकट परिचय ने वह गलग्रहता दूर कर दी, उसके उन्मुक्त, निष्पाप हृदय के स्नेह ने वन्दना को बाँध लिया।....नैना को वह दूर कर सकी, यद्यपि उसकी छाती फट गई थी, इसलिये कि पति ने स्वयं अपने झूठे दर्प में उसकी सेवा भीख कह कर ठुकरा दी थी किन्तु नरेश की सहायता वह स्वीकार कर रहे हैं। कुढ़ते हैं पर अस्वीकार नहीं किया, अपमान नहीं किया। नैना का अपमान वह कर सके, क्योंकि वह स्त्री थी—निरुपाय थी! नारी की निरुपायता को लेकर उसकी व्यथा फिर आँखों से बह चली।

नरेश के आगे चाय का प्याला धरते हुए उसकी आँखों से एक बूंद आँसू टप-से प्याले में गिर पड़ा, नरेश ने देख लिया। वन्दना व्यस्त हुई, दूसरा बनाने चली। नरेश ने हाथ बढ़ाकर वही प्याला ले लिया, कहा—रहने दो भाभी, अपनी बम्बई में इस गंगा-जल के लिए तरस कर रह जाता था। तुम्हारी आँखों के महातीर्थ का यह एक बूंद जल मेरे अन्तर को पवित्र कर देगा।

वन्दना ने रुंधे गले से कहा—आपके ऋण से इस जीवन में उऋण नहीं हो सकूंगी नरेश बाबू! आपने जो दिया है उसे इस फटे आँचल में रखने की मेरे पास जगह नहीं है!

नरेश एकदम उन्मुक्त हँसी हँस उठा—पागल हो भाभी, पाप की कमाई के कुछ चाँदी के टुकड़े तुम्हारे पावन चरणों पर चढ़े, वही क्या इतना बड़ा हो गया? लौटाना चाहती हो उसे? नरेश का मन नहीं देखा भाभी?

यह उन्मुक्त हँसी रसोई पार कर शिवनाथ की कोठरी में दौड़ आई। संदेहग्रस्त मन की मुंदी आँखें एकदम झटका खाकर खुल गईं और उन्मादी-सी नाच उठीं। कृष्णा भी उठकर कब की चली गई थी। उन्हें एकदम याद आया, उसने कहा था—मन को बहलाने के लिए बिन्दो जीजी को एक सहारा चाहिए न! बैसाखी टटोलकर उठाई, चारपाई से उठने की चेष्टा की किन्तु अभी बेसहारे उठने की शक्ति नहीं थी—वह तो कभी नहीं थी—फिर हार कर लेट रहे। मन ऐंठने लगा, पुकारा—बिन्दो, पर बरसात की घहराती झड़ी में स्वर खो गए।

वन्दना ने नत नयन वैसे ही करुणासिक्त स्वर में धीरे-से कहा—वह मन ही तो देखा था नरेश बाबू, तभी तो हाथ बढ़ाकर आपके दान को चुपचाप ग्रहण कर सकी थी। एक दिन उन्होंने कहा था, चाँदी के चमचम में समूचे ब्रह्मांड को कांपता देख सकती हो। तब इतना नहीं समझा था। तब तक यह आँचल किसी के सामने नहीं फैला था, कभी फैलाना पड़ेगा यह भी नहीं सोचा था। लेकिन एक दिन जब उनके लिए ही सुहागिन मैंने भिखारिन बनकर भीख के लिए आँचल फैलाया, तब जाना कि चाँदी व्यर्थ नहीं है।

नरेश ने उत्सुक पूछा—तुमने भीख के लिये आँचल फैलाया भाभी? इस जानवर के लिए? किसके सामने?

वन्दना ने रोते हुए उत्तर दिया—जाने दो वह सब। आपके मित्र हैं, आप उन्हें चाहे जो कहिए पर उस दिन भीख पाकर एक ओर जहाँ आश्वस्त हुई वहाँ दूसरी ओर मेरा सिन्दूर का दर्प एकबारगी ही मर गया। वह उसी दिन की बात है जिस दिन आप आए थे। भीख के रुपयों से ही आपके आतिथ्य का प्रबन्ध किया था, घर में छूंछी-झंझी कौड़ी भी नहीं थी। उसी दिन रात को आपने वह हीरे की कील दी थी।

वन्दना के आँसुओं से विगलित होता हुआ नरेश लज्जित बोला—अब उस बात को क्यों उठाती हो भाभी? क्या मेरा दण्ड अभी पूरा नहीं हुआ?

वन्दना ने कहा—नहीं नरेश बाबू, अपने को छोटा मत बनाइए। आपने कुछ अनहोना नहीं किया था। दण्ड मैं कहाँ से दूंगी? वह कील इनके मन में उस दिन जो गड़ी तो आज तक नहीं निकल सकी। अन्दर ही अन्दर वह घर करती गई, घाव ऊपर से भरता हुआ लगने पर भी भीतर गहरा होता गया। मेरी सेवा-पूजा का लेप भी उसे अच्छा नहीं कर सका। मन के उस घाव में ही यह तन से भी लूले हो गए। मैं क्या करती, बताइए भला? आपको तिरस्कार करके हटा दे सकती थी किन्तु तब इनका क्या होता? अस्पताल का भारी खर्च कहाँ से उठाती? कौन था मेरा? इनकी लूली-लंगड़ी देह भी तो तब देखने को न मिलती!

नरेश की आँखों में भी आँसू छलछला आए थे, चुपचाप उसने कमीज की बाँह से पोंछ लिए। उसको लेकर इस सामने बैठी नारी ने गुपचुप कितना सहा है, कितना विष अविचलित भाव से कंठ के नीचे उतार लिया है, सन्देह और लांछन की कितनी सृष्टि इस घर में होती रही है, जानकर वह स्तंभित हो रहा। उसे एक ही सन्तोष था, एक ही अभिमान था कि उसके उस दिन के पाप का प्रायश्चित्त अप्रतिहत भाव से पूरा हो

रहा है। वह कील उसने कभी वन्दना को पहने नहीं देखी किन्तु भूले से भी उसकी बात चलाकर उसने वन्दना भाभी की निष्ठा को हिलाने की चेष्टा नहीं की। अपने अपराध से वह स्वयं कतराता रहता।

वन्दना ने वैसे ही शान्त, भर्राए हुए कंठ से कहा—मैं जानती थी नरेश बाबू, आपको उन पर श्रद्धा नहीं है। आपकी निश्छलता मेरे ऊपर करुणा कर रही है। मेरा मुँह देखकर ही आप तन-मन से सेवा कर रहे हैं। किन्तु ठीक इसी कारण मैं वह सेवा ग्रहण नहीं कर सकी। आप विश्वास मानिए नरेश बाबू, आपके दिए रुपयों में से एक पैसा भी मैंने अपने ऊपर व्यय नहीं किया। रोज़ का हिसाब लिखा रखा है, आप देख लीजिएं। जो आज अविश्वास कर रहा है, उसने ही आपके विश्वास का लाभ उठाया है।

नरेश, चकित, कह उठा—भाभी!

वन्दना के आँसू झर चले—हाँ नरेश बाबू, वह सब उन्हीं के काम आया है। उनके अस्पताल जाने के दूसरे ही दिन रामदीन आया था। सब कुछ तो पहले ही पेट में झोंक चुकी थी, तीज-त्योहार के लिए बचाकर एक नथिया रख छोड़ी थी। बाबू ने व्याह के समय बड़ी साध से गढ़ाई थी। रामदीन के हाथ उसे सर्राफ़े में बिकवा दिया नरेश बाबू, मन पर पत्थर रखकर सुहाग का वह चिन्ह बेच दिया। सैंतीस रुपए मिले थे। महीने भर से यह पापी पेट उसी के सहारे चल रहा है।

अनिर्वचनीय श्रद्धा से अभिभूत नरेश ने एकदम झुककर वन्दना के चरण छू लिए। मन की घनीभूत प्रशंसा पानी बन कर बह चली—आप इतनी महान हैं भाभी!

थोड़ी देर तक वहाँ चार नयन मोतियाँ लुटाते रहे। पानी थम गया था, मेघ गरजते रहे। सीढ़ी की छाया में से एक आकृति सरक कर कोठरी की ओर बढ़ गई। शिवनाथ की गरज तब सुन पड़ी—

बिन्दो ! मर गई क्या ?

वन्दना ने व्यतिव्यस्त-सी उठते हुए, आँसू पोंछकर, कहा—अब आप चले जाइए नरेश बाबू ! हमारा जो होना होगा, होगा। भगवान सब देखते हैं, कहीं मेरे कारण किसी दिन इन्होंने आपका अपमान कर दिया तो वह चोट मुझसे सहन नहीं होगी। पता नहीं, क्या कर बैठूं ! वह दिन मुझे देखना न पड़े !

नरेश का उद्धत आत्मसम्मान उबल पड़ा—मेरा अपमान ? कौन करेगा ? वह जानवर ? उसमें साहस ही कितना है भाभी ? जो मुँह नहीं खोल सकता है उस पर वह चाहे जो उत्पात मचा ले ! करे तो मेरा अपमान !

वन्दना– अब मैं यह सब कुछ नहीं चाहती भैया, मुझे मरने के लिये छोड़ दो। चले जाओ।

वन्दना डरती-सहमती कोठरी में आई, क्षण भर पहले का अपमान उसकी छाती में उफन रहा था। पीछे-पीछे आया नरेश। कृष्णा के स्वर आते-आते उसके कानों में पड़े—वहाँ तो लैला-मजनूं का नाटक हो रहा है शिवनाथ बाबू ! आपके नरेश बाबू बिन्दो जीजी का पाँव पकड़े बैठे हैं और जीजी उनका सिर गोद में ले आँसू ढार रही हैं !

नरेश ने पैठते ही कड़ा पड़कर कहा—चुप रह डायन ! अपनी माया यहाँ भी फैलाने लगी ? छिपकर बात सुनने में शर्म नहीं आई ?

शिवनाथ का बनावटी संयम अपना संतुलन खो चुका था, चिल्लाकर बोले—छिपकर पाँव पकड़ कर बैठने और आँसू ढारने में शर्म नहीं है, शर्म है छिपकर देखने में ? क्यों नरेश ? मुझे लाचार और पंगु जानकर मेरी सुन्दर स्त्री पर जादू चलाने में शर्म नहीं है ? उसे हीरे मोती से लुभाने में शर्म नहीं है ? उससे प्यार जताने में शर्म नहीं है ? उसे लैला बनाकर खुद मजनूं का पार्ट करने में शर्म नहीं है ?

कृष्णा बिना किसी ओर देखे सिरहाने बैठी जल्दी-जल्दी माथे पर हाथ फिरा रही थी। नरेश की खा जाने वाली दृष्टि का सामना करने का साहस उसके चोर और अपराधी आँखों को नहीं हो रहा था। नरेश हिंसक व्याघ्र-सा शिवनाथ पर टूट पड़ना चाहता था, थप्पड़ मार कर सदा के लिए उसका मुँह बन्द कर देना चाहता था पर, एक क्षण में ही वन्दना की संयमित दृष्टि ने उसका सहज औद्धत्य बाँध दिया। वह कुर्सी पर से उछल कर खड़ा हो गया था किन्तु फिर अपनी प्रतिहिंसा से स्वयं को ही खाता-चुकाता निरुत्तर, धम से बैठ गया। वन्दना ने विक्षिप्त-सी, चारपाई के पायताने बैठकर शिवनाथ के पावों पर हाथ धरते हुए कहा— चुप रहो न! क्या कह रहे हो? किससे कह रहे हो? —और झर-झर रो दी!

किन्तु शिवनाथ शान्त नहीं हुए, उनके हृदय की आग पर वन्दना के आँसुओं के छींटों ने कुछ काम न किया—उसी तीव्रता से बोले— चुप रहूँ? मैं चुप रहूँ? क्यों चुप रहूँ? मुझे किसका डर है? नरेश का? तुम्हारा? कौन होता है यह मेरे घर में आग लगाने वाला? तुम्हें ले जायगा? मुझसे अलग करेगा? मैं तुम्हारा पति हूँ, यह कौन है? डाकू, लुटेरा, चोर....

अपना अपमान पीता हुआ नरेश अब भी स्थिर रहा, यह मिथ्या आरोप सुनता रहा। अनर्गल इतना बक जाने के कारण शिवनाथ की दुर्बल देह थक गई और हाँफने लगे। वन्दना ने वैसे ही रोते हुए कहा— देखो, यह सब झूठ है। मेरा विश्वास करो, मन को मैला मत करो। यह अकलंक हैं। मेरी बात मानो, नहीं तो इन पावों पर सिर पटक कर जान दे दूँगी।

और सचमुच ही वह शिवनाथ के पाँव पर लोट गई, आपादमस्तक घने काले केशों ने सती का लज्जानत मुख ढांप लिया। गर्म गर्म आँसू—

पूत पावन आँसू—उस कदर्य, कलुषित पांव का प्रक्षालन करने लगे। शिवनाथ बावले हो उठे, उन्होंने दाएं पांव की भरपूर ठोकर वन्दना की कोख में मारी, उसका मुंह खाट के गोड़े से टकराया और आँख के पास कोने पर माथा कट गया—लाल-लाल रक्त की धार बह चली और आंचल लाल हो उठा। वह पायताने से नीचे गिरी और फटी आँखों से निहारती रह गई। कृष्णा छिटक कर दूर जा खड़ी हुई। नरेश के लिए अब सहना कठिन था, वन्दना—तपस्विनी, साधनारता, सती वन्दना के रक्त ने उसके रक्त में भी ज्वाला सुलगा दी। एकदम चीख उठा—शिवनाथ, तुम राक्षस हो क्या?—उछल कर वह चारपाई के पास पहुँचा, मुख पर कसाव आ गया था, दोनों हाथ उसने शिवनाथ के गले की ओर बढ़ाए, शायद गला घोंट देता, शायद उस एक क्षण में वहाँ प्रलय हो जाता, शायद उस विकलांग के हृदय की धड़कन सदा के लिए बन्द हो जाती, कि वन्दना ने चिल्लाकर कहा—नरेश बाबू! तुम्हें—आपको मेरी शपथ है, हाथ न उठाइए! मरे हुए को क्या मारना?

कहीं चोट लगने पर तुरन्त उसकी पीड़ा नहीं होती, तुरन्त का क्षण तो स्तब्धता का होता है। अबोध शिशु भी गिरने के क्षण ही नहीं रो देता, सहानुभूति की आँखें उसे पीड़ा का बोध कराती हैं। कृष्णा वन्दना के पास आ गई थी और उसका सिर गोद में ले लिया था। इतना तो उसने भी नहीं सोचा था। इतनी जल्दी उसके लगाये विष-वृक्ष में फल आ जायेंगे इसकी उसने भी कल्पना नहीं की थी। एक पल के लिए उसे भी वन्दना से सचमुच की सहानुभूति हो आई। नरेश का पुरुष हार खाकर फूल रहा था, निष्फल क्रोध उसके रुद्ध मनदेश में तड़प कर अपने को ही तोड़ने-फोड़ने लगा।

वन्दना के माथे से रक्त बहता जा रहा था, बहता जा रहा था। धरती पर धब्बे उभर आए थे। कुछ क्षण बाद उसे चेत आया और

अपनी स्थिति के प्रति सजगता के साथ की स्तब्धता के क्षणों में मुंदे नयन-कोरों में अवरुद्ध अश्रु-सागर ने कूल-तटों की बाधा न मान कर धरती से आकाश तक सब कुछ अपने में समेट लिया। रक्तसनी हथेली आँखों के सामने लाकर वह कुछ पल बावली-सी देखती रही, फिर शान्त भाव से कहा—एक दिन तुम्हें कुछ कड़ी बात कह गई थी। तुम चुपचाप सुनते रहे थे, और करते भी क्या? मेरे अन्दर की नारी उस दिन, दिन भर पछतावे से मरती रही। मैंने संध्या समय तुमसे कहा था कि तुमने थप्पड़ मार कर मेरा मुँह बन्द क्यों नहीं कर दिया।

नरेश—भाभी!

वन्दना—हाँ नरेश बाबू, उस दिन सच ही इनके हाथों की मार खाकर धन्य हो जाती। लाचार थे, असमर्थ थे, हीन थे पर थे आदमी। मैं यही समझी थी। पति होने के नाते ही इनकी पूजा नहीं करती थी इनके चारो ओर से चोट खाए मन के लिये मुझे दुलार हो आया था। सोचती थी, अपना सर्वस्व गँवा कर भी इस अभागे आदमी को जिलाए रख सकूं तो यही मेरा पुरस्कार होगा। किन्तु अब तो उसका उपाय नहीं है भैया! भाग्य को चुनौती देने गई पर ठोकर खाकर मुँह के बल गिरी। मेरा दर्प विधाता से सहन नहीं हुआ। कैसी थी वह सावित्री जो अपने पति को यमलोक के द्वार से लौटा लाई थी?

नरेश की असफल हिंसा वन्दना की करुणा से घुट रही थी। त्याग-मयी की धरित्री-सी सहने की सीमा पर पहुँच कर वह विस्मित हो रहा था, उसकी आँखें निर्झर बन गई थीं। शिवनाथ गुमसुम पड़े हुए थे, कृष्णा सहमी हुई थी।

कुछ देर बाद, कोठरी के बाहर, लालटेन के मद्धिम प्रकाश में नरेश ने कृष्णा को लक्ष्य कर दोनों हाथ प्रणाम की मुद्रा में माथे से लगाए, कहा—चलो देवी! यहाँ का काम समाप्त हुआ न!

कृष्णा ने कोई उत्तर नहीं दिया। वन्दना ने विगलित कंठ से उत्तर दिया—इनका दोष कुछ नहीं है नरेश बाबू! दोष किसी का नहीं है, आप, वह, यह सब निमित्त थे। दोष उस विधना का है जिसने नारी की सर्जना की। जाइए नरेश बाबू, जीवन का यह अध्याय भी समाप्त हुआ—बचे खुचे पृष्ठ भी कभी पूरे हो जायँगे। आप जहाँ रहें, अपनी वन्दना भाभी की मृत्यु का समाचार यदि कभी सुनें तो उसके लिए दो बूंद आँसू ढुलका दीजिएगा। भगवान आपको खुशी रखें!

और फिर आँसुओं के बीच धीरे-से अपने से ही कहा—मरने के समय किसी की आँखों का एक बूंद जल देखकर मैं मरूँगी यह भी मेरे भाग्य में शायद नहीं है।

नरेश ने पागलपन में भावोन्मथित, वन्दना के चरणों पर लोटते हुए-से कहा—मेरा तो कोई दावा नहीं है भाभी, जाओ कहने से ही चला जाऊँगा। मुझे क्षमा कर दो भाभी, मैंने सचमुच ही अपराध किया है!

बहुत-सा रक्त निकल जाने के कारण वन्दना दुर्बलता का अनुभव कर रही थी, पीढ़ा खींच कर बैठते हुए बोली—नरेश के सिर पर उसका स्नेह भरा हाथ चल रहा था—तुम्हारा दावा ही तो सबसे बड़ा है। हाँ, तुमने बहुत बड़ा अपराध किया था भैया। एक मरने वाले के प्राण बचाये थे। एक सुहागन का सुहाग लुटने से बचाया था। नारी की लज्जा उघरने से बचाकर उसे राह-घाट की भिखारिन नहीं बनने दिया। पर कब तक रोकते तुम? मेरे आशीष में तो बल नहीं है भैया, मैं तो तुम्हें कुछ दे नहीं सकती किन्तु मेरा मन निष्पाप रहा हो तो भगवान से यही विनती करती हूँ, ऐसा अपराध करने की सुबुद्धि वह सबको दें।.. छि: यह रोना बन्द करो नरेश बाबू! आँसू तुम्हें नहीं सोहते, वह हम अभागिनों के लिये रहने दो।

वैसे ही रोते हुए नरेश ने कहा—रो लेने दो भाभी, यह आँसू नहीं हैं—मेरे हृदय की पूजा का निर्माल्य है। फिर यह चरण नरेश को नहीं मिलेंगे। इनकी पूजा ने ही मुझे राक्षस से मनुष्य बना दिया। यह अर्घ्य स्वीकार करो भाभी !

फिर कुछ देर बाद जाते-जाते उसने कहा—बम्बई का वह घिनौना कारबार समेट कर मैंने यहाँ नया काम कर लिया है भाभी, सिमेंट की बिक्री का। उसी होटल में दफ़्तर खोल लिया है। कभी ज़रूरत हो तो . . .

बात पूरी नहीं हुई, वन्दना ने उत्तर दिया, निःश्वास से भीगा—प्रार्थना करना नरेश बाबू कि अब कभी ज़रूरत न हो !

उस रात शिवनाथ के विजयी मन लेकर सो जाने के बाद बहुत देर तक वन्दना पत्र लिखती रही। अन्त में उसने लिखा—इसी कारण मुझे जाना पड़ रहा है। जाते-जाते फिर कहती हूँ, नरेश बाबू निष्कलंक थे—मैं भी निष्पाप थी। विश्वास करने को तुम्हें नहीं कहती, शायद विश्वास करने का बल तुम्हारे पास नहीं है।

तुम लाचार हो, कुछ कर नहीं सकते। नरेश बाबू ने जो रुपए दिए थे वह सब तुम्हारे काम में लगे हैं। जो बचे हैं वह तुम्हारी कोठरी में बक्स में धरे हैं। रामदीन आता रहेगा, उससे निकलवा कर चाहना तो खर्च करना। चल फिर नहीं सकते हो, रामदीन को रख लेना।

सड़क पर स्नानार्थियों का दल जाने लगा था। पूरब में तारे धूमिल होने लगे थे। वन्दना ने कोठरी में जाकर जल्दी से पत्र शिवनाथ के कुर्ते की जेब में डाल दिया, भर दृष्टि उस निद्रित अभागे को देखा, गर्म-गर्म खारे आँसू चू पड़े। सीढ़ियों से नीचे उतरी, अपनी तीन वर्षों की जमाई गृहस्थी को मोह से आँखों में भर लिया फिर द्वार खोल गली में निकल गई। उच्छ्वसित रुदन का वेग मुंह पर आँचल रख कर किसी तरह दबा लिया।

परसादी की दूकान से गीत उठ रहा था :—

आटन छोड़ेउं मैं पाटन छोड़ेउं, छोड़ेउं मैं मैया के देस।
यहि सेंदुरहवा के कारन बाबा..............।।

वन्दना जल्दी से आगे बढ़ गई।

ग्यारह

नैना की कोठी सूनी पड़ी थी। मालिक के न रहने से निश्चिंत माली की राममड़ैया सूनी पड़ी थी। सुबह-सुबह पहरे पर आ गए लहजू दरबान की मन की दुनिया, बिंदिया के मालकिन के साथ चली जाने के कारण, सूनी पड़ी थी।

कल रात दस बजे कोठी के पीछे बने नौकरों के क्वार्टर में बड़ा हंगामा मचा। थाना-पुलिस सब आई, हो-हल्ला हुआ, रोना-धोना भी हुआ, खुशामद-चिरौरी, माई-बाप-सरकार सब का प्रयोग हुआ और अन्त में सबकी टेंट से कुछ-न-कुछ निकलवा कर पुलिस सन्देह में कुछ लोगों को अपने साथ बाँध ले गई। पुलिस के जाने के बाद कुएँ की जगत पर बैठ, बचे-खुचे औरत-मर्द-बूढ़े जवानों की पंचायत हुई और उस रेले में कुछ तय न हो पाने के कारण, बहुत रात गए, अपने-अपने क्वार्टरों में जाकर सब सो गए।

पुनवासी जमादार की नई-नवेली, चाँदनी-सी चकमक पतोहू चुलरी ने खाना बनाते वक़्त कपड़ों पर मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा ली और जल मरी।

रात वाले दरबान मंगल मिसिर को हौलदिल हो रहा था। खबर सुनकर भी, पुलिस के डर से, वह फाटक से खिसके नहीं और पंचायत में

किसी ने उन्हें बुलाया नहीं। रात भर किसी तरह मन मार कर काटी, इस समय पहरे से घर जाते समय, उनका कुतूहल शान्त नहीं रह सका, लहजू पांड़े के पास सरक आए।

लहजू ने अभी-अभी अपनी लाठी द्वार के चौखट से सटाकर खड़ी की थी, सीढ़ी पर पालथी मार बैठ बाएँ हाथ की हथेली पर खैनी-चूना रख, दाहिने अँगूठे से मल रहे थे। मंगल को जाते न देख, सुरती में हिस्सा-बाँट की संभावना से वह मन ही मन कुढ़े पर करते क्या? दो-चार बार दाहिनी हथेली से पीट-पाट कर सूखा चूना उड़ाया, फिर एक चुटकी मंगल को देते हुए बेमन से बोले—लेव मिसिर तोहऊँ!

मंगल ने हथेली पर रखकर फांक लिया, कहा —चलें पांड़े, नहाए-निबटै की बेरिया भई।....और हाँ, पुनवसिया की पतोहू ने आत्महत्या कर ली न?

बाएँ चुटकी से नीचे का होठ पकड़ कर दाँतों और उसके बीच विवर बनाते हुए दाहिनी चुटकी से खैनी उसमें डालकर लहजू पांड़े ने हथेली धोती पर रगड़ ली। दूसरों का छेद देख पाकर कनफुसकी करने में, दुनिया के सब लोगों की तरह, उनके मन की बाँछें भी खिल जाती थीं। अपनी कन्दरा उन्हें सुई के छिद्र-सी लगती, दूसरे की सुई का छेद उन्हें कन्दरा लगता। प्रसन्नता के अतिरेक में खड़ी बोली और पुरबी मिलाकर वह बोले—अरे, चुलरी का खायके आतमहतिया करी मिसिर, ऊ कुछ और बात है। हमका देखौ, तीन-तीन बार आतमहतिया कर चुके हैं।

तीन बार आत्महत्या कर चुकने पर भी पांड़े उसके सामने खैनी खा रहे हैं, साँस ले रहे हैं, मंगल मिसिर चकराए। उनका मुंह खुला रह गया। सकते की-सी दशा में पूछा—तीन बार आत्महत्या किहौ पांड़े तब्बौ बेहाया परान नाहीं निकसल? चुलरी तौ एक्कै दफे में राम-नाम-सत्त होय गइल!

लहजू पांड़े ने इतमीनान से घुटनों पर धोती चढ़ाते हुए कहा—

चुलरी को आतमहतिया करने नहीं आउता रहा, एही से एक्कै बार में टें बोल गई। हम तीन दफे किया, एक बार तो मैभा महतारी से लड़के किया, फिर लछुमनियाँ से बियाव के बाद किया और तिसरी बार... अब तोहके का बताई मिसिर, बिंदिया जब सुरू-सुरू में अँगूठा दिखावती रही, तब किया। तीनौ बार बच गए।

मंगल को इन सब में रस नहीं आ रहा था, वह तो कुछ और ही जानना चाहता था। पास सरकते हुए प्रश्न किया—तौ काहे मरी चुलरी, पांड़े ?

लहजू पांड़े ने अनुभव भरे स्वर में समझाया—का करौगे मिसिर ई सब परपंच में पड़िकै ? ई सब इस्कबाजी का मामिला है। दुनिया ऐसी ही चलती है मिसिर।

किन्तु मिसिर की उत्सुकता को स्त्री के प्रेम के चर्चा ने और उभारा। संसार में लोगों की उत्कंठा को इतना अधिक जगाने की शक्ति किसी और विषय में है या नहीं, कौन जाने ! स्त्री-पुरुष, वृद्ध-युवा, सब इसमें समान भाव से रस लेते हैं और आश्चर्य है कि आठो पहर यह प्रेय वस्तु लोगों के मन के इतना निकट होते हुए भी ऊपर से प्रदर्शन यही होता है कि यह घृणित है, छी-छी है। और इस प्रेम को लेकर जहाँ स्त्री की विवशता देख पड़े, जहाँ उसकी दिगम्बरी लज्जा को और उघारने का अवसर हो वहाँ लोगों के पापी मन का कुत्सित रस शतमुख हो जाता है। मंगल मिसिर अपवाद नहीं थे, आत्यंतिक विश्वास दिखाते हुए लहजू पांड़े के नंगे घुटने पर हाथ धर कर बोले—कहते क्या हो पांड़े ? इस्कबाजी इहाँ भी चलती थी ? और हम जाना तक नहीं !—जैसे उनसे बहुत बड़ा पाप बन पड़ा हो कि संसार के इतने महान ज्ञान से वह अपरिचित रहे।

लहजू ने कहा—तौ इहाँ का सरग के देवता रहते रहे जौन न चलती ? अउर सरग के देवता भी तो इस्क करते है ! ऊ जौन एक ठे कबी रहा,

का नाम रहा उसका, ऊ कह नाहीं गया है कि पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मर गया, पंडित कोई नहीं भया। अढ़ाई अच्छर परेम का पढ़े सो पंडित होय! —बात यह है मिसिर कि साधो महराज के बेटौना की आँख चुलरी से लड़ गई रही। ऊ जब संझा के पूजा करने आवैं तब बेटौना धाय-धाय के कुवाटर की ओर घुरियाया रहै। एकाध बार हम पूछा भी कि काहे महराज, एहर का करते हौ? त कहै का—जानते हो मिसिर, कहै कि इस कुआँ का पानी बहुत मीठा होता है। हमहूं मन में कहीं कि हमसे न उड़ौ बेटवा, हम सबु समझित है। —कुआँ का मीठा पानी पियत-पियत आखिर आग लगाय गया कि नहीं? हम त जनतै रहे।

मंगल मिसिर की उत्सुकता अंशत: शान्त हुई, जाने को भी देर हो रही थी, बोले उठते हुए—चुलरी तौ चमाइन है पांड़े! साधो महराज के बेटवा को ई का सूझा? ऊ तो बाम्हन ठहरे!

लहजू पांड़े ने अपना रामायण-महाभारत का ज्ञान बघारा—सूझा नहीं अंधराय गया मिसिर। जवानी की कौनों जात होती है? सुन्दरता का बाम्हन-ठाकुरे की बपौती है? पढ़े-लिखै से ई सब भरम दूर हो जाता है। और जौन पड़-लिख के भी यही सब भरम पालता है तो थुड़ी है ऐसी पढ़ाई पर।

लहजू पांड़े ने पिच-से खैनी की थूक होठों के बाहर फेंकी, मंगल मिसिर बचा गए, कहा—हाँ हाँ, सम्हारि के पांड़े! अबहीं ज ऊप्पर पड़ि जाता, तौ? नहाए-निबटै की बेरिया.....

न पड़ने पर भी उन्होंने अँगोछा से हाथ-पाँव पोंछ लिए और अपना मोटा डण्डा उठाकर चलते हुए कहते गए—का जानी पांड़े, हमारे बाप तौ अंगूठा-निसान लगाते-लगाते मरि गए, बारे दुसरे की बहू-बेटी पर आख नहीं उठाई। मूरख रहे त का, महाल भर का बिसवास लेकर मरे।

मिसिर के जाने के बाद, फतुही की जेब से लहजू ने बिंदिया की पटने से आई मुड़ी-तुड़ी चिट्ठी निकाली और तेरहवीं बार अटक-अटक कर

पढ़ते हुए मन ही मन मगन होने लगे। बिंदिया ने ढेर-सा प्यार उस चिट्ठी में उड़ेल दिया था, न जाने किससे लिखवाई होगी—वह तो लिख-पढ़ नहीं सकती! अपने पनचक्की वाले मरद का हाल-चाल पूछा था, लिखा था कि लहजू से मिल पाने के लिए वह पानी बिना मछरी की तरह तड़प रही है, उसका बस चले तो उड़कर पहुँच जाय। मालकिन तो जैसे सनक गई हैं, बेफायदा इधर-उधर घूमती रहती हैं, रह-रहकर बिंदिया को पकड़ कर पास बैठा लेती हैं—आँखों में आँखें डालकर एक ही बात पूछती रहती हैं—उन्हें भी मेरी याद आती होगी बेंदी? नहीं आती होगी न?—क्यों आए किसी को उस सुहाग-वंचिता की याद? वह तो खेल है, जीवन की लम्बी अवधि में सुरक्षा के हाथ उसकी माँ ने उसके प्रेम और प्यार का सौदा किया है! उसके सुहाग ने उसके माँग की लाली दूसरी को देकर उसकी माँग में काला कोयला मल दिया है।—फिर वह क्यों उनकी याद लेकर बावली बनी घूम रही है? वह क्यों उनके सुहाग की विवशता भूल नहीं पाती?

लहजू की गाड़ी एकदम ठहर गई। तेरह बार पढ़कर भी वह चिट्ठी के "उन" "उनके" और "उन्हें" नहीं समझ सका।

पांड़े ने क्वार्टर में एक सुग्गा पाल रखा था। नित्य नियम से साँझ को लौट कर उसे पढ़ाते—"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता। राम के चरन में चित्त लागा।" वही कहते हुए लाठी सम्हाल कर उठे, फाटक पर बन्द बड़ा-सा ताला खड़का कर देखा। बन्द था, आश्वस्त हुए। भोरहरी की झिर-झिर हवा में मन चंग पर था, बिंदिया की तेरह बार की पढ़ी चिट्ठी ने और भी रस सरसाया था, सोचा, चलें दो-चार करौंदा तोड़ लाएँ। दुपहरिया को पंड़ाइन चटनी पीस लेगीं। कुछ ही पग बढ़े थे कि ठहर गए। बगिया के फाटक से एक स्त्री अन्दर आ रही थी।

लहजू पांड़े फिर आकर सीढ़ी पर जम गए, लाठी टेक दी। आँखें मुलका कर देखा, स्त्री उनकी कमज़ोरी थी। सबकी होती है। क्वार्टर की

तो कोई स्त्री नहीं ?

वन्दना निकट आई, पहचान कर लहजू संभ्रम से खड़ा हो गया। एक दिन जिसे पहले भिखारिन और दासीवृत्ति की याचिका समझा था उसे आदर और सम्मान के साथ बाद में विदा होते उसने देखा था। पैदल आनेवाली फटे चिथड़ों में सिमटी नारी को मालकिन ने गाड़ी-घोड़ा पर चढ़ा-कर बड़ी ललक से लौटाया था। मालकिन नहीं है तो क्या हुआ, असम्मान वह कैसे कर सकता है !.... किन्तु वन्दना निकट आकर निराश हो रहा, प्रश्न करने और उत्तर पाने का उसका उत्साह बुझ गया। द्वार पर बन्द बड़े ताले ने उसकी आशा पर भी ताला लगा दिया। पति के प्रबल-प्रतारणा से उद्वेलित पागलपन में उसने घर की देहरी से बाहर पाँव रख दिया था——भले ही द्वार अभी खुला होगा, भले ही शिवनाथ अपने पापी मन की प्रतिहिंसा के परिणाम से अनवगत अभी पूरी तरह उठे न होंगे और पछ-ताने का अवसर उनके लिए न आया होगा, भले ही परबतिया ने आकर पहले ही से द्वार खुला देख आँगन से पुकारा होगा—बहूजी,—अब तो उस देहरी के अन्दर पाँव रखने की सुविधा वह खो चुकी है, अधिकार का विसर्जन कर उस घर के लिए अनजानी हो चुकी है। कोई जानता नहीं, अपरिचितों के आगे, अतिथियों के आगे अपमान और अनादर का भारी भार मन पर उठाकर वह उस घर और गृहस्थी से विदा ले आई है जिस घर और गृहस्थी पर भूल से, भरम से और अभिमान से संसार की सुहागनें अपना एकान्तिक अधिकार समझती हैं। अब भी वह लौट जा सकती है, उस खुले द्वार से अन्दर जाने में उसके लिए कोई बाधा नहीं, कोई रोक नहीं, संसार ने उसका अपमान नहीं देखा इसलिए मान की रक्षा का प्रश्न नहीं, विपुल जन-कोलाहल में सती की अनथक निष्ठा की घुटती हुई साँस का क्षीण, आर्त्त स्वर किसी ने नहीं सुना इसलिए संसार के निकट अपने लौट आने के कारण की दुहाई देने की आवश्यकता नहीं—

केवल उलटे पाँव लौट जाना है, जैसे कुछ हुआ ही न हो। कहीं कुछ नहीं हुआ, आकाश अपने स्थान पर स्थिर है, धरती वैसी ही धीरज के साथ सह रही है, चाँद की चाँदनी और सूरज की तपन वैसी ही है, पवन वैसा ही पागल है, मेघ वैसे ही गरजते हैं, गंगा की लहरें वैसी ही तट से टकरा कर छितरा जाती हैं, घर की मुंडेर से लगा जरा-जर्जर पीपल वैसा ही निष्काम योगी-सा बाहें पसारे खड़ा होगा।—कहीं कुछ नहीं हुआ, केवल वन्दना की रागभरी, अनुराग भरी, सुहागभरीनारी अपने मूल से छिन्न होकर बिखर गई, टूट गई, लुट गई।

रोकने की अनवरत चेष्टा करते हुए भी वन्दना के नयन झर चले। उन असम्भावित आँसुओं के आगे लहजू विमूढ़-सा खड़ा रहा—कोई प्रश्न नहीं, कोई बात नहीं, यह जो अनायास आँसू का निर्झर झर चला है उसे लेकर वह करे क्या? इन्हें वह क्या कह कर सम्बोधन करे, यह भी उसकी समझ में नहीं आया, माथे पर हाथ फेरते हुए कहा—मालकिन तौ घूमै गई हैं लालाजी के साथ। बिंदिया भी गई है।

वन्दना ने फिर भी कोई प्रश्न नहीं किया, मन के आवेग पर बाँध लगाने की चेष्टा करती-हुई-सी बाहर की ओर बढ़ी। लहजू ने ही फिर बताया—दुइ महीना दिन होने को आता है। बिंदिया की चिट्ठी आई रही, उसमें आने की बात कुछ नहीं लिखी है।

वन्दना ने सुन लिया। उसका विश्वास टूट चुका था, पांवों की गति मन्द हो चुकी थी। आँखें अब भी बरस रही थीं पर अब उनमें पति के प्रतारणा की ज्वाला नहीं, आगन्तुक भावी का काला कुहासा पानी बनकर छलक रहा था। देहरी के बाहर पांव रखने के बाद उसके चोट खाए घायल कपोती के मन ने छिन-मात्र में जान लिया था, वह इस इतने बड़े विराट् विश्व में अकेली है, निपट अकेली, असहाय! पति का घर छोड़कर बाहर निकलने

वाली नारी के लिए माँ-बाप का घर भी बिराना है। नरेश के पास जाकर तो वह संसार भर के पापी प्रश्नों की उत्तरदायिनी होगी, लोगों के कुत्सित कुतूहल को निमंत्रित करेगी! भगवान् जानते हैं, इतने दिनों में नरेश के जिस विश्वासी हृदय का उसने परिचय पाया है उसके आधार पर वह समूचा जीवन उसके साथ रहकर काट सकती है, उसके मन पर आँच न आएगी किन्तु मूरख-मुखों की फूटती अशोभन वाणी का मुंह वह कैसे बन्द करेगी? तब इतने बड़े जनसंकुल नगर के किस कोने में जाकर वह अपना मुंह छिपाए—कहाँ जाकर छिप जाय जहाँ लोगों की कपट भरी आँखें उसका पीछा न करें? किसके आगे अपनी याचना भरी झोली फैलाए? कौन उस मन्दभागिनी को महत्व देकर उसके अपमानित मान की रक्षा करेगा? उसके पास अपरूप रूप है, यौवन है। उस रूप और यौवन में पागल कर देनेवाली मादकता है। वह सब कुछ है जो अरक्षित और असहाय और अवश पाकर पुरुष प्राप्त करने के लिए प्रायः प्राणों की बलि चढ़ा देते हैं। नहीं, वह पुरुष का भक्ष्य नहीं बनेगी। मतवालों की वासना के आगे अपनी निरुपाय लज्जा को दिगंबरा नहीं छोड़ेगी। तभी, अपनी असहायता के चिन्तन के उन त्वरा से भागते क्षणों में, आँसुओं से गीली दृष्टि से उसने देखा कि उसके कंपित, अनस्थिर मन-फलक पर एक उपेक्षिता, अनादृता, नारीत्व की परम्परागत गरिमा से च्युत कलंकिता नारी की आकृति उतर रही है। दोनों आतुर बाहें विष्णुकांता की लता-सी आलिंगन के लिए फैली हुई हैं, नयनों में निमंत्रण है, अधरों पर आकुल आवाहन और वक्ष के उठते-गिरते अविराम उद्वेलन में असीम, अपरिमित, आग्रह भरा प्यार। अचेतना में ही जैसे उसके पांव नैना की कोठी की ओर बढ़े, बढ़ते गए, बढ़ते गए—नैना का अनुरोध भरा स्वर जैसे उसे बुलाता गया, बुलाता गया, निहोरा करता गया—"जीजी, तुमने कहा था कि जब कभी जीवन में सचमुच ही यह आँचल फैलाने की आवश्यकता होगी तब छोटी बहन को न

भूलूंगी। आओ जीजी आज अपनी इस पतिता छोटी बहन के पास। संसार के सम्मानित जन आज तुम्हें सहारा नहीं देंगे, आज तुम्हें असम्मान की प्रतिमा नैना सिर-माथे बिठाएगी। दुनियावाले तुम्हें आदेश देंगे, उपदेश देंगे। पत्नी और नारी के कर्त्तव्यों के प्रति सचेत करेंगे। नैना के पास यह सब बला नहीं भाई, वह तुम्हें गोद में बिठाएगी और अपने काले आँचल से तुम्हारे वह गोल-गोल मोतियों जैसे आँसू पोंछ देगी।

किन्तु, महासती के आँसू अपने कलुषित आँचल से पोंछने की स्पर्द्धावाली कुलटा इस समय अपने मन से संत्रस्त हो स्वयं गृहत्यागिनी हो रही थी। लहजू पांड़े का उत्तर सुनने के पहले ही वन्दना के मन की आँखों ने अपना अँधेरा आगत पढ़ लिया था। तभी तो, आश्रय की अपेक्षा लेकर यहाँ आकर भी उसके मुंह से बोल नहीं फूटे। नैना की अनुपस्थिति के कारण सर्वथा अनवलंब होकर भी किसी को दोष देने का उसका साहस नहीं हुआ, अपने भगवान को भी नहीं। डगमग पग, गति में नारी की युगव्यापिनी विवशता भरे, लाज से नतानना, घृणा का घूंघट डाले वह वहाँ से अन्यमनस्क चली। चली तो किन्तु उसके चलने का जैसे कोई प्रयोजन नहीं था, जैसे उसके पांव स्वतः नहीं उठ रहे थे। कोई अनजानी शक्ति उसे आगे की ओर कोंचा दे-देकर बढ़ाए लिए जा रही थी।

सड़क पर, चाय वाले के टूटे ग्रामोफ़ोन पर चढ़ा हुआ रेकार्ड किसी कोकिलकण्ठी का स्वर बिगाड़कर शोर कर रहा था—"नजर लागी राजा तोरे बंगले पर। जो मैं होती राजा बन की कोयलिया, कुहुक रहती राजा तोरे बंगले पर। नजर लागी राजा तोरे बंगले... तोरे बंगले... तोरे बंगले.... रेकार्ड यहाँ घिस गया था।

जल्दी-जल्दी वन्दना चल रही थी। कहाँ जा रही है, स्वयं उसे इसका निश्चय नहीं था। मुँह उघारने का साहस उसे नहीं हो रहा था, कहीं कोई पहिचान न ले! जीवन में पहली बार आज वह अकेली चल

रही है, गन्तव्य का पता नहीं, साथी-संगी का बल नहीं। उस विस्तृत राजपथ पर उसे स्वयं अपने से डर लगने लगा। उसे लगा, ऊपर नीलाकाश हँस रहा है, नीचे धरती। इस ओर, उस ओर, सब ओर की उत्सुक कुतूहली दृष्टि उसे आवेष्ठित कर आधराकाश एक विराट् प्रश्न चिन्ह बनी हुई है। यह है, यही है वह नारी, पति का आश्रय छोड़ जो अलग आ गई है। इसने पति से विद्रोह किया है, पति के घर को घृणा से त्याग दिया है। सुहाग की मान्यता इसने नहीं मानी। असमर्थ और अक्षम स्वामी को निरुपाय छोड़, नेह का नाता तोड़, विरोध को इसने वरण किया है। भागो, बचो इसकी छाया से! ...... धरती धसकती-सी लग रही है, आकाश नीचे आ रहा है। त्वरा से दिशाएँ सिमटती आ रही हैं। वन्दना की साँस घुट रही है, घुट रही है। उसके नन्हें-से निष्पाप हृदय का स्पन्दन बन्द हो रहा है।... और सचमुच ही जैसे उसका कण्ठावरोध हो गया। किसी के कठोर हाथ उसके कोमल कण्ठ पर कसते-से लगे। उसकी आँखें विस्फारित हो गईं, मुख की नसें तन गईं। जीभ बाहर निकल आई और अंग-अंग पसीने से नहा उठा। पांव डगमगाने लगे, चलना दूभर हो गया। छाती के अन्दर की दहकती ज्वाला में उसका झुलसा हुआ मन एक बूंद जल के लिए मछली-सा तड़पने लगा। आँखों के आगे अन्धकार......

पानी!

कोने में बैठी तरुणी सुराही से पानी ढालकर उठी। वन्दना ने उसे ऊपर से नीचे तक देखा। पानी पीने का उत्साह बुझ गया। अधपके बालों की चोटी पीठ पर लटक रही है, कानों में कई जगह छेद करके चाँदी की बालियाँ पहन रखी हैं, श्यामवर्ण की कृशता की ओर बढ़ती काया पर छींट का मैला गुलाबी रंग का कुर्त्ता और पाजामा, कई जगह फटे कत्थई रंग के झीने दुपट्टे से, जिसे लापर्वाही से कुर्ते पर डाल रखा

गया था, कुर्ते के बटनों के साथ लगी चाँदी की पतली लड़ियाँ बाहर झांक रही हैं। पांव में काम की हुई पुरानी जूतियाँ, पीछे का भाग जिनका दबकर चिपक गया है। माँग में कभी सिन्दूर लगा था, पास-पड़ोस की औरतों ने गाली देते हुए गाया था—"माई माई पुकारैं, माई बोलत नाहीं, देत है हरामी-पूता सेंधुर, होथिन पराई धीया।" पर अब विगत यौवन की स्मृति बनकर रह गए शरीर की भाँति उस ओर से भी तरुणी असावधान है। वन्दना उठ कर चारपाई पर बैठ गई, भयभीत दृष्टि से अपने चारों ओर देखा। मुंह से निकला—आप....

नसीबन कहो, नसीबन बुआ। अल्लाह खैर करे, तुम्हारी जुबान तो खुली! लो, पानी पी लो। और उस "सायर" के बच्चे को क्या कहूँ, खुदा उसे जीता रखे, जाने कहाँ से बेहोस तुम्हें उठा लाया। बोला—बुआ, लो सम्हालो। पूछो भला, कौन कारूँ का खजाना बुआ को सौंप रहे हो जो सम्हाले वह? अब बुआ है कि मूंड़ मार रही हैं।—तरुणी ने एक साँस में कह डाला।

वन्दना ने गिलास हाथ में ले लिया पर पानी पी नहीं सकी। बुआ उधर कोने में बैठ कथरी सीती हुई अपने से ही बड़बड़ाने लगीं—इसी लच्छन से तो भौजी पोती को लेकर मैके चली गईं। बड़ी बिटिया तो खैर, अपनी जान से गई, खुदा उसे जन्नत बख्शे, बहू को इसकी सायरी ने खा डाला। पूछो भला, घर में नहीं दाने, अम्मा चलीं भुनाने। रोटी के तो लाले पड़े हैं और आप हैं कि.... जी जल कर रह जाता है मेरा, सच कहती हूँ! अब यही देखो, मैं तो कहूँ सब्जी लेने गया है तो आता ही होगा। आया तो यह सौगात लेता आया। अब तुम्हें ओढ़ूं या बिछाऊँ?

वन्दना चारपाई से नीचे उतर आई, पूछा—किसकी बात कर रही हैं आप? कौन मुझे यहाँ लाया है?

बुआ जैसे आसमान से गिरीं—अब यह लो, यह भी मुझे बताना होगा! अरे, मेरे इकबाल से बढ़कर पागल और कौन है यहाँ, जो रास्ता चलते बिपत मोल लेता फिरे? वही तो तुम्हें ले आया है यहाँ, और आप हैं कि पूछ रही हैं—कौन लाया यहाँ! दुनिया भर के सिर-फिरे क्या मेरी ही क़िस्मत में लिखे हैं! या अल्लाह, दूध तो तुम्हें दिया ही नहीं। इकबाल कह गया था कि उठने पर दूध दे देना, सब्ज़ी के पैसों का दूध लेता आया था मेरा बच्चा!

वन्दना को यह सब कुछ समझ में नहीं आ रहा था। अनजान घर, अनजाने लोग, शायद यह लोग उसकी जात और धर्म के भी नहीं हैं, कहाँ आ गई वह, कैसे आ गई? संस्कारों से काँप उठी वह, कहा—दूध? मुझे? लेकिन दूध तो मैं......

नसीबन बुआ हाथ रोक, मुँह बिगाड़कर बोलीं—नहीं पी सकूंगी, यही न? बेहोसी से उठी हो, कमज़ोरी है और दूध नहीं पियोगी तो बुआ का हाड़ खाओगी? अब जी तो मेरा जलाओ मती, समझीं! एक दिन सब्ज़ी न खाने से मर नहीं जायँगे हम, लेकिन दूध तुम्हें फ़ायदा करेगा।

वन्दना को लगा कि यह लोग कोई भी हों, ममता इनके पास है। इस ममता का मान रखने में वह संकुचित हो रही है, यह सही है किन्तु इस स्नेह को जान-बूझ कर झटकार सकना उसके लिए—उसके संस्कारी मन के लिए भी—संभव नहीं हो रहा है। वह पास ही बैठ गई, गिलास एक ओर रख दिया और धीरे-से कहा—यह बात नहीं है बुआ। बात यह है कि....आप लोग कौन हैं, मैं कहाँ हूँ, कैसे यहाँ आ गई, मैं कुछ भी तो नहीं जानती! मैं भी तो आपके लिए उतनी ही अनजान हूँ जितनी आप मेरे लिए हैं! मैं आपसे ही पूछती हूँ, चाहे जिस अजनबी का दिया खाना-पीना आप ले लेंगी? आपके मन को चोट नहीं लगेगी?

बुआ—इसमें मन को चोट लगने की क्या बात है भाई? मैं तो इतनी "घिरना" किसी से न करूँ!

वन्दना—घृणा की बात नहीं है इसमें, यह तो आदमी की अपनी रुचि की बात है बुआ! आदमी होकर आदमी से घृणा करने की बात मेरे मन में नहीं उठती। ऐसा ही है तो लाओ दूध, मैं पी लेती हूँ। आपका मन रह जायगा।

वन्दना ने पास ही पुरवे में रखा दूध लेने को हाथ बढ़ाया। झुकी तो हाथ की लाल-लाल चूड़ियाँ और माँग का सिन्दूर जंगले से छनकर आती पीली धूप में जगर-मगर कर उठे। और कुछ भी झलक उठा जिसे बूझने में नसीबन बुआ को देर न लगी। व्यस्त होकर, हाथ रोक बोलीं—या अल्ला, ज़रा ठहरो तो! तुम कौन जात की हो भाई?

वन्दना—हिन्दू हूँ बुआ। ब्राह्मण।

जैसे पास ही कही आसमान फट पड़ा हो. नसीबन बुआ एकदम उछल पड़ीं—बराभन हो तुम? उई माँ, और तुमने मेरा छुआ पानी पी लिया? मैं कहूँ, तुम्हारी अक्किल पर पत्थर पड़ गया है क्या? और इस इकबाल को क्या कहूँ, आखिर तुम्हारा धरम भरभष्ट हुआ या नहीं? अब मैं क्या करूँ?

वन्दना ने पानी भरा ग्लास दिखाते हुए कहा—यह रखा है बुआ। तुम कुछ मत करो, बैठी रहो। मैं कुछ समझ नहीं रही हूँ। यह किसका घर है, कैसे मैं यहाँ आ गई, कौन मुझे लाया, क्यों लाया—यह सब मुझे पहेली लग रहा है। पर इतना समझ गई हूँ कि तुम लोग कोई भी हो, दया-माया तुम लोगों के पास बहुत है। नहीं तो, किसी अजनबी ग़ैर आदमी के लिए कौन इतना करता है?

नसीबन बुआ को जैसे यह सत्य कुछ अच्छा नहीं लगा, मुँह बिगाड़-कर, जैसे काढ़ा पी रही हों, बोलीं—अब यही बातें तो हमें अच्छी नहीं

लगतीं, हाँ! महाल भर से यही सब सुनते-सुनते बुआ का माथा ख़राब हो गया है। बुआ बिना किसी का काम भी नहीं चलता और जब बुआ .....

दरबे ऐसा घर, बाहर किवाड़ कोई खटखटाने लगा तो मालूम हुआ, जैसे बम गिर रहे हों! बुआ झुंझलाकर बड़बड़ाती हुई उठीं—अब यह लो, यह कौन ज़लज़ला आया! मैं कहती हूँ, ज़रा धीरे किवाड़ खड़-काओगे तो कोई नुक़सान हो जायगा? मैं बहरी हूँ या क्या समझ रक्खा है मुझे?

किवाड़ खोलकर बुआ फिर आकर कथरी लेकर बैठ गईं, मुंह फुलाए हुए। जो व्यक्ति पीछे-पीछे आया उसने एक बार वन्दना को घूर कर देखा, फिर कहता गया—चलो न बुआ एक बार, रमरजिया का दरद थम नहीं रहा है। मछरी ऐसी तड़प रही है।

नसीबन ने आँख उठाकर एक बार ऐसे देखा जैसे कह रही हों—तो मैं क्या करूँ, और फिर कथरी में दृष्टि गड़ा ली। आगन्तुक बुआ के स्वभाव से परिचित लगता था। वन्दना पर दृष्टि गड़ाए हुए ही बोला—और किसी की दवा फायदा नहीं करेगी बुआ, उसको तो बस तुम्हारी तलब है। जरा-सा दरद कम होता है तो कहने लगती है—बुआ को बुलाओ। चलो न, आधा दरद तो तुम्हें देखकर ही उसका भाग जायगा।

बुआ अन्दर ही अन्दर पसीज गई थीं, उनका मान गल गया था। उन्होंने ऐसे सिर हिलाया जैसे वह व्यक्ति जो कुछ कह रहा है वह जानती हैं फिर भी, एकदम उद्यत होकर वह हल्कापन नहीं दिखाना चाहती थीं। कहा—और वह डागदरनी की दवा? उसका क्या होगा?

वह व्यक्ति विश्वस्त होकर बोला—वह तो ज्यों की त्यों रखी है बुआ, रमरजिया ने छुआ भी नहीं।

बुआ ने मान बनाए रख कर कहा—अभी तो मुझे छुट्टी है नहीं

दुखरन के बाबू! साँझ तक छुट्टी हुई तो एक बार आऊँगी। तुम जाओ, थोड़ी-सी हींग भुनवा कर बोंडरी पर लेप करवा दो। अल्ला चाहेगा तो दरद खींच लेगी। जाओ।

दुखरन के बाबू ने करुण बन कर जाते-जाते कहा—सांझ तक तुम्हें छुट्टी होगी बुआ, और तब तक रमरजिया की इस दुनिया से छुट्टी हो जायगी। मर जायगी वह दरद के मारे।

बुआ एकदम व्यतिव्यस्त हो उठीं, बोलीं—मरें उसके दुसमन, तुम चलो। मैं आती हूँ। जो कहा है वह चल कर करो।

वह व्यक्ति चला गया और बुआ अपने से ही जैसे बोलने लगीं—चार दिन से आढ़त में नौकरी क्या करने लगा कि लाट-गवरनर हो गया। हमारी बिल्ली और हमीं से म्याऊँ, पैसों की गरमी हमको दिखाता है! ज़रा-सा औरत के पेट में दरद हुआ तो डागदरिन आयेगी! पूछो भला, जब डागदरिन नहीं थी तब दरद नहीं होता था? अच्छा नहीं होता था? महाल भर के पेट में दरद होता है तो डागदरिन आती है? डागदरिन नसीबन बुआ से ज़यादा जानती है? तो मैं कब रोकती हूँ भाई, तुम्हारे पास अल्ला का दिया चार पैसा है, डागदरिन क्या डागदर की दवाई करो! फिर बुआ के पास क्यों दौड़े आते हो?...लो, तुम्हारी बात तो रही गई! अब तुम ठहरीं बराभन, लोग कहेंगे नहीं कि नसीबन बुआ ने पानी पिलाकर धरम ले लिया?

बेगानी परिस्थिति में भी वन्दना को हँसी आ गई। अपने संकट की बात भूल इस अनजानी विधर्मी स्त्री के प्रति उसका मन श्रद्धा से भर गया। किन्तु मात्र एक क्षण के लिए, दूसरे ही क्षण अपने वर्तमान की विभीषिका से वह फिर संत्रस्त हो उठी। कहा उसने—कोई कुछ नहीं कहेगा बुआ। और जो धरम की बात कहती हो, तो बिपदा के मारे का धरम होता कहाँ है? मसानघाट पर सब मुर्दे बराबर होते हैं, चाहे

नौ मन चन्दन की लकड़ी रख कर फूंक दो चाहे.....

उसकी आँखों में आँसू झलक उठे। नसीबन बुआ ने लक्ष्य किया और एकदम विचलित हो उठीं। बात पूरी नहीं होने दी, बीच में ही बोलीं—अच्छा-अच्छा, सुन लिया तुम्हारा पुरान! मैं यह सब क्या जानूं भाई? पूरन की बहू को बच्चा होनेवाला था, सो रात भर वहाँ रही। सबेरे आकर ज़रा चारपाई पर लेट कर कमर सीधी कर रही थी कि इकबलवा आकर खड़ा हो गया, कहा बुआ लो। तुम्हारी इनको ज़रूरत है। तो यहाँ बैठी हूँ। अब यह सब मुर्दा-फ़ुर्दा की बात....

द्वार से कोई गुनगुनाता हुआ आ रहा था:—

मौत का एक दिन मुअय्यन है,
नींद क्यों रात भर नहीं आती।

बुआ ने बीच में ही शायरी पर ब्रेक लगा दिया, पुकार कर कहा—मैं कहूँ, ओ सायर के बच्चे! क़सम खुदा की, तेरे लच्छन देख-देख कर तो मेरा जी जल कर रह जाता है! अब यही देखो भला, तूने मुझे बताया क्यों नहीं कि यह बराभनी हैं? इन्होंने हमारा छुआ पानी पिया, दूध पिया, अब इनका धरम कहाँ रहा?

वन्दना ने जल्दी से टोंका—कहाँ अभी पिया बुआ? सब तो धरा है!

शायर महाशय कोई भी हों, तब तक वहाँ आकर खड़े हो गए थे। वन्दना उन्हें देखकर बैठी न रह सकी, संकोच से उठ गई। बुआ कहती गईं—वह एक ही बात है बेटी, मान लो पी लेतीं तो? तब तो दुनिया-जहान मुझे ही कहता न? इसे बता तो देना चाहिए था! अच्छा, अब जो हुआ सो हुआ, छुट्टी ले आया न? अब बैठ यहाँ, रमरजिया का दरद अभी वैसा ही है। मैं वहाँ जाती हूँ। आऊँगी तब रोटी बनेगी!

शायर महाशय ने कहा—लेकिन वहाँ तो तुम्हारी ज़रूरत नहीं है

बुआ! तुम्हीं तो कह रही थीं कि वहाँ तुम्हारी बड़ी बेइज्ज़ती हुई!

बुआ ने बात उड़ाते हुए जाने को उद्यत होकर कहा—सो होने दो, वह तो होती ही रहती है। बेइज्ज़ती की पर्वाह बुआ कब करती हैं? बुआ बिना काम भी नहीं चलता और जब बुआ.... सो बेइज्ज़ती होने से आदमी अपना धरम छोड़ देगा? मेरा धरम मेरे साथ है, उन लोगों का उनके साथ।

फिर वन्दना को संबोधित कर, द्वार की ओर बढ़ती हुई बोलीं—तुम अभी कमज़ोर हो बेटी, एक बूंद दूध भी तुम्हारे मुँह में नहीं गया। कौन हो, कहाँ की हो, कहाँ से यह दुसमन उठा लाया, कुछ तो नहीं जानती मैं! और मैं जानकर करूँगी भी क्या बेटी, मुझे अपने काम से काम ठहरा। चलूं रमरजिया को देखूं, वह डागदरिन चुड़ैल जाने क्या-क्या उसे खिला-पिला गई होगी! अब यह आ गया है, तुम ज़रा आराम कर लो। लौट कर तुमसे बातें होंगी!....अरे, तू घुग्घू की तरह ताक क्या रहा है? खाली लाने भर को ही था कि कुछ इन्तज़ाम भी करेगा? यह ठहरीं बराभनी, यहाँ का पानी कैसे पियेंगी? अच्छा, चलती हूँ बेटी। गई और आई, तब तक......

आँधी की भाँति, ओढ़नी ठीक करती, बुआ घर के बाहर निकल गईं। वन्दना ने उस क्षण इस अजानी, विधर्मी महिला को मन ही मन प्रणाम कर लिया। लगा कि किसी के पास करने को कोई बात नहीं है। समय भारी होने लगा और इस अपरिचित घर में अपरिचित लोगों के बीच वन्दना के हृदय की धड़कन बढ़ गई। स्वामी के घर की सुरक्षा उसे रह-रह कर मथने लगी। कौन हैं यह लोग? सबसे बढ़कर, इस नवागन्तुक विधर्मी व्यक्ति के साथ अपने को घर में अकेली पाकर वह और भी विचलित हो उठी। और आश्चर्य है कि उसी क्षण, घर छोड़ने के बाद पहली बार, उसे सहसा ही शिवनाथ की याद आई। कैसे होंगे वह? सोकर

उठे होंगे, मुझे पुकारा होगा और न पाकर मन में न जाने क्या सोचा होगा! परबतिया काम पर आई होगी, उसने भी जाकर पास-पड़ोस के घरों में पूछ-ताछ की होगी। अब तक आँधी की भाँति मुहल्ले भर में यह फैल गया होगा कि पंडित जी की स्त्री घर छोड़कर कहीं चली गई है। लोग न जाने क्या-क्या अर्थ लगाते होंगे, कितने मुँहों से कितने तरह की बातें फूटती होंगी, सती सीता तक को कलंक लगा था। उन्हें मेरा पत्र मिला होगा—क्या सोचा होगा? उंह, सोचें। मेरा मन साफ़ है। किन्तु यह स्थिति भी अधिक देर तक नहीं चल सकती थी। सूने घर में दो अपरिचित प्राणी एक दूसरे के आमने-सामने खड़े होकर मौनता का आश्रय ले स्थिति को उलझा ही सकते थे। वन्दना जल्दी से जल्दी यहाँ से छुट्टी पाना चाहती थी, छुट्टी पाकर ही कहाँ जायगी, क्या करेगी, कुछ निश्चय नहीं किन्तु यहाँ तो रहा नहीं जा सकता। इतनी ही देर में वह समझ गई कि अपना घर छूट जाने पर संकोच भी पीछे छूट जाता है। मुँह खोल कर वह कुछ पूछने ही जा रही थी कि उस अपरिचित ने कहा—देखिए, यह तो आप जान ही गईं कि हम लोग मुसलमान हैं। बुआ से शायद आपने बताया कि आप बिरहमन हैं, आपके सामने ही बुआ ने कहा। तो फिर यह तो तय है कि आप यहाँ नहीं रह सकतीं। जहाँ आप कहें भेजने का परबन्ध कर दूं।

वन्दना ने धीरे से पूछा—आप.....

सामने खड़ा व्यक्ति शायद वन्दना की दुविधा समझ गया, उत्तर दिया—मैं? हाँ, मुझे दिलकश कहते हैं, इकबाल हुसेन "दिलकश"। यहाँ लाला किरशन सहाय के प्रेस में काम करता हूँ। अभी जो गई हैं, वह मेरी दूर की रिश्ते की बुआ होती हैं, मुहल्ला भर उन्हें बुआ कहता है। उनसे आपने मेरे बारे में सुन लिया होगा, तीस मिनट में पच्चीस बार कम से कम उन्होंने मुझे अपना दुश्मन कहा होगा। मेरे लिए जान

देती हैं। आपको यहाँ लाकर उन्हें ही सौंप दिया था। ज़माने भर की बला अपने सिर लेने में उन्हें मज़ा आता है। मैं ठहरा फ़ालतू आदमी, शायर और आर्टिस्ट होने के नाते दुनिया की नज़रों में निकम्मा! माँ तक ऊब कर मायके चली गई, बीबी खुदा के घर! बुआ हैं कि निकम्मा समझती हैं पर छोड़ भी नहीं सकतीं। उनके लिए जो कुछ हूँ, मैं हूँ। आप जानें कि....

पर यह सब सुनने के लिए वन्दना वहाँ थी कहाँ? दिलकश मौज में बहे जा रहे थे और वन्दना वहीं कुर्सी पकड़कर बैठ गई थी। अकस्मात् उल्कापात से जैसे वातावरण स्तब्ध और जड़वत् हो रहता है, कृष्ण सहाय के प्रेस और दिलकश के नाम ने वन्दना को सहसा ही चेतनाहीन कर दिया। उस स्थिति को सही-सही शब्दों में समझाना कठिन है। रामदीन से वह सुन चकी थी कि शिवनाथ की नौकरी छूट जाने पर उनके स्थान पर लाला कृष्णसहाय ने जिनको नियुक्त किया है उनका नाम है दिलकश, सब लोग कहते हैं मुंशी दिलकश। मुसलमान हैं। इस संयोग की तो उसने कल्पना भी नहीं की थी कि वह अन्त में उन्हीं दिलकश साहब के यहाँ पहुँच जायगी। इस संकट में वह कैसे पड़ गई?. वह तो नैना के यहाँ से निकल कर मुँह छिपाए चली जा रही थी। किसी तरह गंगाजी तक पहुँच जाना चाहती थी कि कहीं सूना, एकान्त देख वह अपने इस जीवन से मुक्ति पा ले। जब उसका उपयोग स्वयं अपने ही घर में नहीं रह गया है तब वह संसार का भार नहीं बनना चाहती। किन्तु....किन्तु यह दिलकश....यह विधर्मी का घर....यह नसीबन बुआ, यह सब क्या है, क्यों है, कैसे है? क्या करे वह, कैसे यहाँ से भाग जाय? कितने अच्छे हैं ये बेचारे लोग! बुआ तो जैसे ममता की मूर्ति, वात्सल्य की देवी! वन्दना के मुंदे नेत्रों के सामने घटनाएँ चलचित्रों की भाँति घूम रही थीं।

दिलकश ने लक्ष्य कर लिया था कि युवती को उसकी बातों में रस नहीं आ रहा है, शायद वह अब तक अपने बेहोशी के आलम से पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सकी है। शायद उसे यह भी नहीं मालूम कि वह यहाँ कैसे आ गई, पता नहीं किस बिपदा की मारी है! स्थिति को स्पष्ट करने के उद्देश्य से उसने कहा—मैं बाज़ार सब्ज़ी लेने जा रहा था। वह जो सूने में पुलिया पड़ती है न, लाला किरशन सहाय के बँगले के आगे, वहीं आप गुम-सुम बैठी हुई थीं। इक्के-दुक्के लोग उधर से गंगा नहाकर लौट रहे थे, मैंने देखा कि वह आपको भिखारिन समझ कर मुँह सिकोड़कर आगे बढ़ गए। मैंने पास पहुँचकर पाया कि आप बेहोश हैं। अब आप जानें कि भिखारिन हो या रानी—जिसे सहारा चाहिए उसे तो मिलना ही चाहिए। मैं तो निकम्मा हूँ बहन, मेरे पास देने को क्या है? सिर्फ़ दिलजोई कर सकता हूँ, महज़ हमदर्दी दे सकता हूँ। मैं तो वकील नहीं हूँ, डाक्टर नहीं हूँ, पुरफ़ेसर नहीं हूँ, और तो और मेम्बर असेम्बली भी नहीं हूँ—मेरी क्या इज्ज़त हो सकती है? मैं तो सिर्फ़ शायर हूँ, ख्याली दुनिया में रहनेवाला आर्टिस्ट, सोसायटी जिससे दिल-बहलाव कर सकती है पर समझती जिसे है परले सिरे का बेवकूफ़! डाक्टर होना, वकील-पुरफ़ेसर होना, ग़ल्ले की दूकान लगाना कुछ करना कहा जाता है। गवैया होना, शायर होना कुछ करना नहीं है! हुँह!

इतना बक जाने के बाद उसे लगा कि वह शायद अनर्गल कह रहा है। यह सामने बैठी युवती इतनी व्यथा की बात समझ भी पायेगी? एक आर्टिस्ट की ज़िन्दगी के मीठे-कड़वे अनुभवों को सुनकर यह औरत क्या करेगी? जब बड़े-बड़े लोग नहीं समझते, समझना नहीं चाहते तो यह तो पता नहीं पढ़ी-लिखी भी है या नहीं। और पढ़-लिख जाने से ही क्या होता है, आर्ट और आर्टिस्ट की अहमियत समझना और बात है! कुछ रुककर कहा उसने—खैर, मेरी बात जाने दें। जब अपनी बीबी

ही नहीं समझ सकी तो और किसे क्या कहूँ ? मुझे किसी से इसका गिला भी नहीं है।....तो उसी वक़्त उधर से खुशक़िस्मती से एक खाली रिक्शा निकला, उस पर लाद लाया आपको यहाँ। बुआ पहले तो बहुत बिगड़ीं, रिक्शे के पैसे तक नहीं दे रही थीं, पर वह अपने इस दुश्मन को आज से थोड़े ही जानती हैं! अब आप जहाँ जाना चाहें, मैं परबन्ध कर दूं!

अब वन्दना अपनी सही स्थिति समझी। नैना के बंगले से निराश बाहर निकलने पर एक साथ इतनी बातों का घटाटोप उसके मानस-नेत्रों पर छा गया कि वह पुलिया के पास बैठ गई थी। सोचने को क्या एकाध बात थी—विगत विवाहित जीवन का सर्वग्रासी अन्धकार और काला भविष्य एक साथ उसे मथने लगे थे। सोचते-सोचते उसके माथे की नसें फूल आई थीं और रह-रह कर उसे रुलाई आ रही थी। कहाँ जाय ? क्या करे ? अपमान की जिस प्रतारणा में स्वामी को सोता छोड़ घर से बाहर निकल आई थी उसने उस घर का द्वार उसके लिए सदा के लिए कर दिया था। खुला भी होता तो क्या फिर उसी सहज भाव से वह अन्दर जा पाती ? स्वामी का स्वभाव क्या इतनी जल्दी बदल जायगा ? सन्देह का जो कीटाणु उनके मन में अहम् से पालित होकर वन्दना के हृदय का रक्त पी-पीकर विवाहित जीवन के इतने वर्षों में फूलता आया है, वह इतनी जल्दी नष्ट हो जायगा ? आज वह अपने अनबूझ दिनों का कुहक-जाल फाड़कर भीतर झाँकने में समर्थ हो सकी है, उसने पाया है कि इतने दिनों तक वह एक भारी भ्रम में रहती आई है—शायद सब स्त्रियाँ रहती हैं। उसकी सेवा, उसका निश्छल स्नेह, अक्लांत निष्ठा और एकान्त समर्पण, सब स्वामी के संशयालु चरणों पर निवेदित होते रहे। वह अपना अधिकार पाकर फूलते रहे और वह निःस्व होती रही। शेष होती रही, चुकती रही। .....किन्तु वह कृष्णा, कहाँ से आ गई वह ? दिन

तो बीत ही रहे थे, बीत जाते, एक दिन वह भी शेष होते-होते निःशेष हो जाती, उस घर में केवल उसका नाम रह जाता किन्तु कृष्णा ने वह काला दिन बहुत जल्दी ला दिया। उस अनजानी नारी के आगे अपना अपमान अपने ही घर में वह नहीं सह सकी। ...उसके कोख की चोट कसक उठी और वहीं वह बैठ गई। उसके बाद क्या हुआ, उसे याद नहीं।

दिलकश ने आगे कहा—आपके बारे में मैं कुछ नहीं जानता, जानना भी नहीं चाहता। यह समझ गया हूँ कि आप राह चलती भिखारिन नहीं हैं, ऊँची नाकवाले लोग जिसे देखकर नाक सिकोड़कर चले जा रहे थे। आप कोई दुखियारी मालूम पड़ती हैं। इस शहर में कोई तो आपका पहचान का होगा। दूर का नाते-रिश्ते का कोई! आप नाम बताइए, मैं पता लगाकर आपको वहाँ पहुँचा दूं। इसीलिए प्रेस से छुट्टी ले आया हूँ।

कैसे बताए वन्दना कि इस शहर में ही उसका सर्वस्व है, दूर का नाते-रिश्ते का कोई नहीं—एकदम हृदय के अन्दर का देवता, किन्तु अब, इस क्षण और इस परिस्थिति में वह उसका नाम भी नहीं ले सकती। नाम तो कभी उसने नहीं लिया किन्तु अन्य स्त्रियाँ स्यात् जिस सम्बन्ध का परिचय लोगों को देने में गर्व और मर्यादा से भर उठती हैं वह सम्बन्ध वह कैसे इस अपरिचित व्यक्ति को समझाए? लज्जा से धरती में नहीं गड़ जायगी वह? तुलसी बाबा ने लिखा है—निज पति कहेउ तिन्हंहि सिय सैननि, संकेत से भी वह स्वामी का परिचय किसी को देने में मर जायगी। कैसे समझाएगी वह किसी को कि पति और पति का घर उसी नगर में रहते हुए भी उसे अन्य का आश्रय ढूंढना पड़ रहा है, दूसरे के घर में रहने को बाध्य होना पड़ रहा है। क्यों? आखिर उसके किस अपराध का यह दण्ड उसे मिल रहा है भगवान! अहल्या, द्रौपदी, तारा, मन्दोदरी, कहाँ हैं सब? उसे बाबू ने बताया था, इनका नाम लेने से महापातक का

नाश होता है। जो कुछ उसने इनके बारे में पढ़ा था वह तो ऐसा नहीं था जो इन्हें प्रातःस्मरणीय बनाता! वह इनसे स्पर्द्धा नहीं करती किन्तु उसे क्यों निष्पाप होने का यह दण्ड मिला? उससे विधाता क्यों वाम हो गए? उसे याद आया, एक दिन स्वामी के असत्य पर मोहित उसने गर्व से सोचा था—भाग्य है तो रहे, अपनी जगह वह ठीक है पर उसे लेकर हमारी चेष्टाएँ क्यों बँधें? नियति के नियंत्रण से हमारी अपनी गति क्यों कुंठित हो रहे? अदृष्ट के अलक्ष्य हाथ हमारी अबाध कर्मधारा पर बाँध क्यों बाँधें?.... रुकने का नाम मृत्यु है, वह एक दिन ही होगी।... वह दिन आ गया है मेरे भगवान्! आज से बड़ा शुभ, या अशुभ कहूँ, दिन अब कब आएगा? अपनी करुणा उड़ेल दो वन्दना के आँचल में, जो मृत्यु का वरदान बन जाय। बहुत जी चुकी वह, अब उसका काम समाप्त हो गया है। आशा नहीं, विश्वास नहीं, आश्रय का अवलंब नहीं, पुरजन-परिजन की आँखों में प्रश्न, सन्देह, घृणा—स्वामी का अपमान और तिरस्कार, नहीं, भाग्य की यह चुनौती वह नहीं झेल सकेगी! उठा लो उसे, मरना चाहती है वह! लोग तुम्हें पतित-पावन कहते हैं। पतितों की बात तुम जानो, मैं पतित नहीं हूँ यह जानती हूँ किन्तु तुम्हारे चरणों में स्थान मिल जायगा मुझे!

वन्दना की आँखें बरसने लगीं। उन बोलते आँसुओं के आगे कलाकार विमूढ़ हो रहा, किन्तु क्षण भर के लिए। दूसरे ही क्षण बोला—देखिए, रोने से कुछ हासिल नहीं होगा। रोना अच्छी चीज़ है पर सूने में। मैं भी बहुत रोया हूँ पर दुनिया ने कभी दिलकश की आँख में आँसू नहीं देखे। आखिर आप चाहती क्या हैं?

रोते ही रोते वन्दना ने कहा—मैं मरना चाहती हूँ। आप इसका प्रबन्ध कर दें।

उस सूने छोटे-से घर में दिलकश की हँसी बड़ी कुरूप लगी। हँसी

थमने पर रोती हुई सहमी वन्दना से उसने कहा—रबीन्दरनाथ टैगोर न सही फिर भी मैं आर्टिस्ट हूँ भाई, बनाना मेरा काम है। मिटाना तो ऊपरवाले के हाथ है। दुनिया में यों ही बहुत रोना है, गन्दगी है, बदसूरती है। हम उसमें हाथ नहीं बटा सकते। इस काम के लिए दिलकश बेकार है। तभी तो मैं....

किसी ने द्वार के बाहर से पुकारा—दिलकश साहब हैं?

स्वर अपरिचित था। द्वार की ओर बढ़ते हुए दिलकश ने कहा—आप तब तक सोच लें, कहाँ जाना चाहती हैं। दिलकश के साथ तो रह नहीं सकतीं, कोई नहीं रहना चाहता। खाली बुआ रह सकती हैं। मैं इन साहब से निबट लूं। आया भाई!

इस क्षेत्र के दारोग़ा मुंशी इरफ़ान अली बाहर दो पुलिस कांस्टेबिलों के साथ खड़े थे। सबसे पीछे, आड़ में वह महाशय थे जो बुआ को अपने घर रमरजिया का पेट का दरद ठीक कराने ले गए थे और जिन्हें बुआ ने "दुखरन" के बाबू कहा था। दिलकश को आश्चर्य हुआ, पुलिस का आगमन उसके घर एक घटना थी। दुखरन के बाबू पीछे से उचक रहे थे, जैसे पास के कांस्टेबिल से कह रहे हों—हाँ, यही है वह!

दिलकश ने साश्चर्य दारोग़ा को देखकर कहा—आदाब अर्ज़ है। कैसे इनायत की? मुआफ़ कीजिएगा, बिठाने लायक़ जगह मेरे पास नहीं।

इरफ़ान अली—तसलीम। बैठने मैं आया भी नहीं। यह जो आदमी है—ए, इधर आगे आओ—इसने थाने में जाकर कहा कि आपके घर में एक हिन्दू मुसम्मात है। मुझे तअज्जुब हुआ, मैं आपको आज से तो जानता नहीं! मुशायरों में एकाध बार आपके कलाम भी सुनने का मौक़ा मिलक़ा है। वह जो पुलिस लाइन वाला मुशायरा था उसकी सदारत भी आपने की थी। तो, इस आदमी ने कहा कि वह हिन्दू औरत रो रही थी। मैंने सोचा, ऐसी बातें फैलें तो अच्छा-ख़ासा हंगामा मच जायगा। आप जानते

हैं, दोनों फिरकों के गुण्डे तो मौक़े की ताक में रहते हैं। इसीलिए मैं वाक़-यात की जानकारी के लिए चला आया।

दिलकश ने दुखरन के बाबू को हिक़ारत की नज़र से देखा। यही वह व्यक्ति है जिसकी स्त्री को यातना से मुक्ति देने के लिए बुआ बेइज़्ज़ती सहकर भी गई थीं। अच्छा बदला इसने चुकाया! शायद मेरे न रहने पर बुआ को बुलाने आया होगा! निश्छल हृदय का विश्वास वाणी में उतर पड़ा—इनकी इत्तला सही थी। वह औरत अभी यहीं है। आप खुद उससे पूछ-ताछ कर लें। मैं नहीं जानता था कि किसी बिपता की मारी की मदद कर देना इतना बड़ा जुर्म है जिसकी तफ़तीश के लिए पुलिस को आना पड़ता है।

फिर अन्दर की ओर मुँह कर पुकारा—बहन, ज़रा बाहर तो आ जाओ। यह दारोग़ा साहब तशरीफ़ लाए हैं। आप से कुछ पूछना चाहते हैं।

वन्दना को आभास लग गया था। इतनी देर में साहस एकत्र कर लिया था, यह निश्चय कर लिया था कि कुछ भी हो, अपने कारण इस अकपट विधर्मी परिवार को संकट में नहीं पड़ने देगी। विपत्ति व्यक्ति को साहसी बना देती है, वह द्वार पर आकर दिलकश के पीछे खड़ी हो गई। रोने से आँखें अब भी लाल थीं किन्तु मुख पर एक दृढ़ निश्चय झलक रहा था। इरफ़ान अली की अनुभवी पुलिस की आँखों ने ऊपर से नीचे तक इस करुणा की मूर्ति को देखा, आत्मविश्वास से जिसका अंग-अंग दीप्त था। कहीं भी उन्हें सन्देह का कोई कारण नहीं मिला। दुखरन के बाबू अत्यधिक प्रसन्न, उचक कर कुछ और आगे आ गए। उनके पुरुषार्थ का सद्यः फल मिला था। सदा के लिए वह शायद मुहल्लेवालों की नज़र में ऊँचे चढ़ जायँ! किन्तु इरफ़ान अली ने पुलिस का जन्मजात रवैया इस मामले में नहीं अपनाया, जातिगत भावना शायद आड़े आई, बोले वन्दना की ओर देखते हुए—आपने नाहक़ इन्हें

तकलीफ दी। आपकी बात से ही मैं समझ गया था। पर आपसे उम्र में बड़ा हूँ, एक सलाह आपको दिए जाता हूँ, गाँठ बाँध लें। बिपदा के मारे की मदद करना बड़े सवाब का काम है पर आदमी बहुत बड़ा शैतान है। हमारे धन्धे ने लम्बे अर्से में हमें यही सिखाया है। यह जो कोई भी हों, शरीफ़ ख़ान्दान की हैं यह मैं समझ गया। यह जहाँ जाना चाहें, आप भेज दें। मैं नहीं चाहता कि मेरे इलाक़े में ख़्वाहमख़्वाह कोई हंगामा वर्पा हो।

वन्दना को अँधेरे में सहसा ही जैसे आलोक की कोई किरण दिखाई दी, जैसे कोई भूली बात याद आ गई। इरफ़ान अली के जाते ही उसने पूछा—आप लाला कृष्णसहाय के प्रेस में काम करते हैं न?

दिलकश अभी मनुष्य के अन्दर वाले दानव को लेकर उलझ रहे थे, उत्तर दिया—हाँ, करता तो हूँ। वह भी बड़ा भारी ख़ून चूसनेवाला वाक़ा हुआ है। वह....

वन्दना—वहाँ रामदीन नाम का कोई लड़का काम करता है? उसका घर आप जानते हैं?

दिलकश—जानता हूँ। बड़ा सीधा लड़का है। क्यों?

वन्दना ने जाने किस पागलपन में निश्चय सुनाया—आप मुझे उसके घर पहुँचा दें। मैं उसे जानती हूँ।

दिलकश को जैसे राहत मिली, कहा—अच्छी बात है अभी वह प्रेस में होगा। पाँच बजे के बाद ले चलूँगा।

वन्दना जब संध्या समय चलने लगी तब बुआ द्वार तक आईं। उनके रोएँ-रोएँ से इस कुछ घण्टों की मिहमान स्त्री के लिए आशीष की अजस्र वर्षा हो रही थी। वन्दना ने आँखों में आँसू भरकर कहा—चलती हूँ बुआ। जाने कहाँ से भटकती हुई तुम्हारे पास कुछ समय के लिए आ गई थी, फिर कभी भेंट होगी इसकी आशा नहीं। कभी सोचा भी नहीं था कि हिन्दू घर के संस्कारों में पली मैं, ब्राह्मण, एक दिन तुम लोगों के—

मुसलमानों के—घर में आश्रय पाने को आऊँगी। पर तुम्हारे पास से जो पाया है बुआ, वह हिन्दू-मुसलमान के परे है। वह परमात्मा का दिया है। बहते-बहते क्षण भर के लिए किनारे आ लगी थी, फिर मझधार में जा रही हूँ। चलो भैया।

और उसके नयन फिर झर चले। बुआ ने माथे पर हाथ फेरा, बोलीं—जाओ बेटी, तुम्हें तो कुछ खिला-पिला भी नहीं सकी। यह मेरा दुसमन...

उन्हें भी रुलाई आ गई। ओढ़नी आँखों पर रख ली। कलाकार, निर्लेप, आगे बढ़ गया।

●

बारह

लगता है, मेरी यह भटकन कभी बन्द न होगी। दो महीने तो हो गए बेंदी, एक पागलपन में इधर से उधर मारी-मारी फिर रही हूँ। लालाजी भी अब ऊब गए हैं, उनके काम का हर्ज हो रहा है। माना कि गिरधारी है पर अपने से देखने की बात और है। व्यापार में तो अपने आँख-कान पर भरोसा करना पड़ता है। रुपए जो खर्च हो रहे हैं वह अलग।—बिंदिया के हाथ से बटाटा बड़ा की प्लेट लेकर टेबुल पर सजाते हुए नैना ने उदास मन से कहा।

विगत दो महीनों में कितनी बार बिंदिया यह सब सुन चुकी है, अब उसे याद नहीं। पहले उसे सुनकर उत्साह होता था, उत्तर देने में ललक होती थी, शायद मालकिन लौट चलें घर—अपने देस! जहाँ उसका वेही दरबान लहजू पाँड़े है, जहाँ उसकी हमजोली-मुँहबोली क्वार्टर की औरतें हैं, अरे—जहाँ उसका पनचक्कीवाला मरद ही है। लाख कुछ हो, है तो उसका मरद—जान देता है उस पर। वह तो बिंदिया ही उससे अनखाई रहती है, पांड़े उसे भा गया है तो क्या करे? अब मालकिन की इस तरह की बात पर उत्तर देने का उसका हौसला नहीं होता। अब उसने अपने मन को समझा लिया है कि वह दासी है, चाकरी करने जब

चली तब अपना मन बेच दिया। किन्तु आज मालकिन ने पैसों की बात उठाई है, अब शायद उसकी आशा फलवती हो जाय। उमग कर उत्तर दिया उसने—तो मालकिन, लउट चलो न अपने घर। बहुत दिन तौ होय गवा!

नैना इधर-उधर देख कर कुर्सी पर बैठ गई, बोली एक उच्छ्वास लेकर—और इस मन को क्या करूँ रे, यह जो नहीं मानता! इतना तो इसे समझाया लेकिन यह चैन नहीं लेने देता। सोचती हूँ, यह सब आखिर क्यों? दिन तो बीत ही रहे थे कि कहीं से वन्दना जीजी आ गईं। भीख माँगने आई थीं तो वही बन कर रहतीं—एक भिखारिन, पर वह तो मुझे ही कंगाल कर गईं। मुँह खोलकर कुछ माँगा नहीं, कुछ कहा नहीं, एक दिन के लिए भी अपने ऊँचे आसन से दयनीय बनकर नीचे नहीं उतरीं लेकिन मैं तो निःस्व हो गई। वह जिस ऊँचाई पर थीं वहाँ तक तो आँख भी नहीं उठती बेंदी, केवल चरणों को ही दृष्टि छूकर रह जाती है। उनके पास कुछ ऐसा था जिसे अपने जीवन का सर्वस्व देकर भी मैं नहीं पा सकती।

बिंदिया ने मुँह बिचकाया, पांड़े से मिलने की आशा अभी वह नहीं पाल सकती। चुपचाप आलमारी खोलकर प्याले-प्लेट निकालने लगी।

संध्या घिरती आ रही थी। बम्बई का मानसूनी आकाश ऊमस भरे बादलों से चौपाटी के सामने सागर की छाती पर झुका जा रहा था। चौपाटी के मैदान में हलचल थी, भेल-पुरी और डाभ के प्रेमी रह-रह कर ऊपर की ओर भी देख लेते थे। सूर्य अभी डूबा नहीं था, कहीं-कहीं बादल छँट जाने पर रक्ताभा में उदधि-वक्ष दो भिन्न वर्णों में उद्भासित हो उठता था, श्याम और रक्त-श्वेत! तरंगों की लहरियों पर दूर-दूर पालवाली नौकाएँ डोल रही थीं—मछलियों से पटी हुई! मराठी मछुए मौज में गीत गा रहे थे, नंगी बाहों की कसी हुई मांस-पेशियाँ डाँड़ चलाने की क्रिया में उभर-उभर आतीं। किसी क्षण बूँदें छहर-छहर बरस सकती थीं। नैना

ने आँख उठाकर बाहर देखा, फिर बिंदिया को व्यस्त देख स्वयं ही बरामदे में सूखते कपड़े उतार लाई। कुर्सी के हत्थे पर रखते समय बिंदिया ने देख लिया, व्यतिव्यस्त हो कहा—अरे, हम उतार लाइत मालकिन! आप काहे....

बात काट कर नैना बोली—कुछ मुझे भी तो करना चाहिए बेंदी! मैं तो एकदम आलसी होती जा रही हूँ। यह सब छोटे-मोटे काम तो आदमी कर सकता है।....लालाजी अभी नहीं आए न।

बिंदिया—नाहीं मालकिन! आय गए होते तो चाय पियै न अउते?

पता नहीं, सुनकर नैना आश्वस्त हुई या क्या, कमरे में बढ़ते अन्धकार को लक्ष्य कर कहा—बत्ती जलादे बेंदी।

स्विच, बिंदिया जहाँ खड़ी थी, वहीं था। बत्ती जलते ही नैना ने दोनों हाथ जोड़ माथे से छुवाए। बिंदिया को आश्चर्य हुआ, यह क्या? पूछा—यह क्या करती हौ मालकिन?

नैना—सब हिन्दू घरों में होता है रे। मैं यह सब भूल गई थी। अभी लालाजी तो आए नहीं, चाय लगा कर क्या होगी? बल्कि तू चुप-चाप बैठ।

बिंदिया जानती थी, उसके बैठने का अर्थ क्या है। मालकिन अपना पुरान बांचना आरंभ करेंगी और उसे अनचाहे बैठ कर सब सुनना होगा। अब ऐसी कौन-सी नई बात वह कहेंगी? दो महीनों में एक ही बात आवृत्ति पाते-पाते बिंदिया के लिए अपना महत्व खो चुकी है। उन्हें दुःख है, बहुत दुःख है यह वह जानती है। दुःख न होता, मन पर कोई अनकही बात पहाड़ बन कर जमी न होती तो क्यों घर-बार छोड़ यों दर-दर भटकती फिरतीं! लेकिन वह दरद क्या है, वह कैसे समझे? उसे तो मालकिन की हाँ पर हाँ और ना पर ना कहना है। मन मार कर वह वहीं, नीचे बैठ गई—मन ही मन मनाती कि लालाजी आ जायँ तो उसे निस्तार मिले।

नैना कहने लगी, दृष्टि उसकी कहीं सूनेपन में भरम रही थी—तुझसे तो कहा था बिंदिया, एक दिन वन्दना जीजी के घर जाकर मैं अपनी ही निगाह में छोटी हो गई, एकदम छोटी, कौड़ी बराबर जिसका मोल नहीं। क्या था उस टूटे-फूटे घर में, नहीं जानती। दीवारों और छतों पर से चूना झर गया था, वर्षों से मरम्मत नहीं हुई, बर्त्तन-भांड़े कुछ नहीं, बैठने की जगह नहीं—चारों ओर दैन्य और अभाव और करुणा! उन सबके बीच में वन्दना जीजी, जिनके पास तन ढंकने के लिए भी साबित कपड़ा नहीं। टूटे-फूटे एकाध बर्त्तन माँज कर उठी थीं, हाथ कालिख से सने थ, वैसे ही हँसकर मुझे बाहों में भर लिया। मेरी रेशमी साड़ी पर काले-काले धब्बे पड़ गए। वह साड़ी अब तक वैसी ही सम्हाल कर रखी है बेंदी, मेरी वन्दना जीजी का प्रसाद है न! मेरे जले हुए भाग्य में वह दिन आया तो —एक पल के लिए सही—जब एक कुलवती ने, निश्छल-निर्व्याज, मेरी लाज का मान रखा! सुहागवती ने कुलटा के कलंक को नहीं देखा, देखा उसकी कसक को। दुनिया की ऊपरी आँखें मुझे जैसा देखती हैं, जीजी ने मुझे वैसा नहीं देखा। देखा मेरे अन्दर की रोती हुई नैना को जो किसी और के अपराध का दण्ड सिर माथे ले, निरपराध होते हुए भी संसार की दृष्टि में अछूत है, जिसकी छाया भी भली औरतें बराती हैं। मैंने क्या किया है बेंदी, कौन-सा पाप किया है जो सतवंती नारियों के समाज में मेरे लिए स्थान नहीं? लालाजी भी लोभी भौंरे की भाँति मेरा रस लूटना चाहते हैं। वर्षों से उनके साथ हूँ पर अपने पुरखों के घर में वह भी मुझे नहीं रख सके। तू भी तो इतने दिनों से है बिंदिया, कभी उस घर से किसी को मेरे पास आते देखा? लालाजी के इतने मिलने-जुलने वाले हैं, किसी के घर की बहू-बेटी कभी मेरे पास आई? उस घर में काज-परोजन में भी कभी किसी ने मुझे नहीं पूछा—लालाजी ने भी चलने को नहीं कहा। जैसे मैं औरत ही नहीं हूँ, जैसे मेरी साँस में ज़हर है—कोढ़ के रोगी की भाँति मैं सबसे

अलग, सबसे दूर, सबकी आँखों से ओझल रहने के लिए ही बनी हूँ। इसी-लिए न, कि जिसके साथ एक दिन भांवरें फिरने का नाटक हुआ था उसने खेल के आरम्भ में ही पर्दा गिरा दिया। जिसने सबकी गवाही के सामने माँग में सिन्दूर मला था उसी ने अपनी मौज में माँग में कोयला दल दिया।

बाहर बड़ी-बड़ी बूंदें गिरने लगीं। भीतर नैना के नयन बरसने लगे। कसक की यह कहानी कुछ समझे या न समझे, मालकिन के सत्य, निष्कलुष नेत्रों की तरल भाषा में निमज्जित व्यथा की इस कथा ने, अनगिन आवृत्तियों के बाद भी इस समय फिर, बिंदिया की आँखें गीली कर दीं। सान्त्वना के मिस कुछ कहने के लिए उसने मुँह ऊपर उठाया किन्तु नैना बीच में ही बोली——मैं जानती हूँ, तू कहेगी बिंदिया कि यह सब मेरा पागलपन है। तू हो क्या, सब यही कहेंगे पर मैं क्या करूँ, यह कोई नहीं बताता। जीजी की सिन्दूर-दीप्त मांग ने मेरे जीवन में जो आग सुलगा दी उसे कैसे बुझाऊं? पल भर में ही मेरा वर्त्तमान जैसे जादू-सा लोप हो गया, अतीत और भविष्य मेरा मुँह चिढ़ाने लगे। तू कह सकती है कि जीजी मेरे अतीत से अनजान थीं, वह अपनी गरज लेकर आई थीं। नहीं, नहीं मेरी अच्छी बेंदी, इस भरम में मुझे मत डाल। एक सपना देखती आई हूँ रे, उसे नष्ट करने से तुझे क्या मिलेगा? वह सब कुछ जान-सुन कर आई थीं, वह जानती थीं कि मैं लालाजी की व्याहता, धर्म की पत्नी नहीं हूँ। मैं तो हूँ उठा कर लाई हुई, खेल के लिए रखी हुई रखैल। और जो गरज की बात कहो तो कौन उससे कोरा है? किसकी गरज किससे नहीं है? लेकिन उनकी गरज में भी एक गौरव था—अपने लिए आँचल उन्होंने नहीं पसारा था, पति के प्राणों की रक्षा के लिए वह भीख माँग रही थीं। दोनों में कितना बड़ा फ़र्क है यह तू नहीं देखती?

मालकिन की अनर्गल बातें बिंदिया कभी नहीं समझी, इस समय भी कुछ न समझते हुए उसने स्वीकार में सिर हिला दिया जैसे वह सब

समझ गई। कोठरी के बाहर अँधेरा घना हो आया था, हवा वेग से चल रही थी। मुहूर्त्त मात्र में ही सामने का मैदान जनशून्य हो गया था, केवल छाते लगाए हुए दफ़्तरों के बाबू जल्दी-जल्दी पग बढ़ा रहे थे—ट्रेन जो पकड़नी थी! मोटरों, बसों और टैक्सियों की पांतें धुली सड़क पर अनवच्छिन्न गति से बढ़ती जा रही थीं। सागर और क्षितिज के संधि-स्थल पर के गहरे अंधकार के बीच एक जहाज़ धीर-मन्थर गति से बढ़ रहा था, खिड़कियों में से प्रकाश ऐसा लगता था जैसे कांच की कुछ गोलियाँ पंक्तिबद्ध लुढ़क रही हों। नैना के कक्ष के बाहर, अन्दर के प्रकाश में, बरसता पानी झलमल कर रहा था जैसे शीशे की झालर लटक रही हो। व्यथा की कथा कहने और सुननेवाली दो नारियों के क्षणिक मौन में मैन्टलपीस पर रखी घड़ी की टिक्-टिक् बड़ी कठोर लग रही थी।

सागर के ऊर्म्मिल संगीत में आकाश की झरती हुई वेदना विलीन हो रही है। कुर्सी पर निढाल बैठी नैना के नीचे लटकते हाथों की हथेलियाँ प्रकाश में और भी अलक्तक हो उठी हैं। मस्तक उसने कुर्सी की पीठ पर टिका दिया है और मुँदी आँखों की कोरों से आँसू के मुक्ता-बिन्दु कपोलों पर ढुलक रहे हैं। पान के पत्ते से भी पतले होठ अपरिसीम व्यथा अपने में समेटे क्षण भर के लिए निस्पन्द हो गए हैं। बिंदिया सहज ही यह तन्मयता भंग नहीं करती, अभ्यस्त हो चुकी है इसकी किन्तु मालकिन को जब-जब पागलपन का यह दौरा उठता है—और बहुत उठता है—तब-तब वह एक ही बात सोचने लगती है, आख़िर उस दिन उस भिखमंगिन के आने में ऐसा क्या था जो मालकिन यह दरद पाल बैठीं? औरतें उसने भी बहुत देखी हैं, नई बात क्या थी उसमें? मालकिन ने ख़ुद कई बार कहा है कि भीख माँगने आई थी वह! इसमें अनहोना क्या था? भिखारिन से अधिक मान बिंदिया का मन वन्दना को दे पाने में सक्षम नहीं था। बहुत साहस बटोर कर कहा उसने धीरे

से—मालकिन, एक बात हम समुझि नाहीं पाइत। उइ भीख माँगे आई रहीं और आप दिहौ। उइ चली गई। फिर ई हाय-हाय काहे?

उत्तर सुनने के लिए बिंदिया, उत्सुक, नैना के मुख की ओर देखने लगी। अश्रु-छलछल नैना की आँखें धीरे-धीरे खुलीं। बिंदिया को लगा कि जैसे महाकाल के तीसरे नयन की समग्र ज्वाला नैना के नेत्रों में समा गई हो, भय से काँप उठी वह! शायद अनजान में उसने कोई अनर्गल बात कह दी, अब मालकिन उसे... किन्तु नैना के नेत्रों में वही सूना उदास भाव फिर भर आया। बाहर बूँदें गिरनी बन्द हो गई थीं, हवा थम गई थी और एक घुटन उस कोठरी में परिव्याप्त हो रही थी। नैना ने उत्तर कुछ नहीं दिया, वही सूनी दृष्टि क्षण भर के लिए बिंदिया के मुख पर जमा दी और फिर आँखें मूँद लीं। बिंदिया की समस्या सुलझी नहीं, भिखारिन किस तरह एक दिन आकर, मुँह खोलकर बिना कुछ माँगे, राजरानी को पथ पर दर-दर भटकने के लिए छोड़ गई—यह पहेली अब भी उसके निकट पहेली ही बनी रही।

कुछ क्षण ऐसे ही नीरव बीते। नैना ने अपने को सम्हाल लिया था, बोली—यही तो मैं आज तक समझ नहीं पाई बेंदी! मैंने भी भीख के लिए फैले उस मैले आँचल में चांदी के कुछ ठीकरे डालकर छुट्टी पानी चाही थी। तूने तो देखा है रे, दया-माया मुझे छू भी नहीं गई। किसी को रोते देखकर मुझे हँसी आती थी। किसी के घर में आग लगती देखकर मुझे हाथ सेंकने का मन होता था। ऐसी बन गई थी मैं—बना दी गई थी। दुनिया ने मेरी झोली में एक दिन जो डाला था, मैं खुले हाथों उसे ही लुटाती थी! निरपराध होते हुए भी मेरे मन को मसल दिया गया था, मेरे यौवन और नारीत्व से खेल किया गया था। मैं कुछ जानती नहीं थी, समझती नहीं थी। बुद्धि लगाकर अपनी स्थिति समझ सकूँ, इतना ज्ञान नहीं था किन्तु खेल तो मुझसे हुआ था, लुटी तो मैं थी—

मिटी तो मैं थी ! अनजान में ही मेरा सहज मन दुनिया के प्रति कठोर हो गया था, होता गया था। जीजी ने आकर अपने सिन्दूर की दुहाई दी, अपने मरणशय्या पर पड़े पति के प्राणों की रक्षा के लिए उनकी छूटी नौकरी बचा लेने की भीख माँगी। आज तुझसे कहती हूँ बेंदी, उस क्षण मैं बदले की भावना से भर गई। मेरे आगे एक सुहागवती नारी आँचल फैलाए खड़ी थी, जिसका सुहाग पुँछने जा रहा था, जिसके पति के प्राण मेरी दया पर निर्भर थे ! मेरा भी तो सुहाग था, मेरा भी तो एक पति था ! मेरे सुहाग की रक्षा किसने की ? मेरा पति क्यों मुझसे बन्धन मानकर नहीं चला ? लुट जाय इस सामने खड़ी स्त्री का सुहाग, मिट जाय इस नारी की माँग का सिन्दूर, मर जाय इसका पति—मैं क्यों चिन्ता करूँ ? खिलखिलाकर हँसने का जी हो आया, मन में होने लगा कि अपने जीवन का सारा विष, सारा जहर एकबारगी ही अपनी सांसों में भर कर इस नारी को नागिन-सी डस लूँ . . . किन्तु . . . . किन्तु वह विष स्वयं मुझे ही नस-नस में बसकर जीने का अमृत दे गया। जीजी ने तो बस इतना ही कहा—मेरे पति के प्राण आज आपके हाथ में हैं बहन ! किन्तु उनका इतना कहना ही मेरे जीवन के लिए पारसमणि हो गया। जैसे क्षण भर में ही मुझे अपना खोया अतीत मिल गया। कहाँ गया मेरा जहर, कहाँ गई मेरी घृणा, कहाँ गया मेरा मन का सब विद्वेष—रोम-रोम मेरा चिरदिन के प्यासे की भाँति उस एक शब्द का अमृत पीने लगा। जैसे एक युगव्यापी अनावृष्टि के बाद तपती धरती के कण्ठ में पानी की कुछ बूँदें पड़ गई हों। मेरा मन-प्राण, अंग-अंग उस एक शब्द की सुधा में नहाकर निखर उठा। क्या था उस शब्द में, क्यों मैं अपने को भूल गई—नहीं जानती। दुनिया में न जाने कितने मुँहों से पल-पल यह शब्द अनगिनत बार निकला करता है, कहीं तो ऐसा नहीं होता ! कहीं तो कोई पागल नहीं होता ! कहीं ऐसा नहीं होता

कि भिखारिन के द्वार से हटने पर दाता को लगे कि वह एकदम रीता हो गया है, चुक गया है और अब उसके पास अपना कह कर रखने के लिए कुछ नहीं है। यह सब जानती हूँ बिंदिया, शायद बहस करके वह सब पाया भी नहीं जा सकता जो मुझे एक पल में उस दिन मिल गया। वह अन्तर का धन है, बाहर की आँखों से वह सत्य पकड़ाई नहीं देगा। मैं तो यही जानती हूँ कि न चाहते हुए भी उस एक शब्द पर मैं बिक गई, जैसे एक युग से वही भूला-बिसरा शब्द सुनने के लिए—यही सब कह कर अपना परिचय संसार को देने के लिए—मेरा मन तरस रहा था। बहन कह कर वन्दना जीजी ने जैसे मुझे जीत लिया। अब चाहे इसे पागलपन कह ले बिंदिया पर सच यही है कि उस दिन, उस पल, तुम लोगों की जानी-पहचानी नैना मर गई।

एक साँस में बहुत कुछ कह गई थी नैना। उसके हृदय का सत्य धीरे-धीरे बिंदिया के आगे खुल रहा था, पाटल दल की भाँति। रात कुछ घड़ी और आगे सरक गई थी, मेघों का उत्पात एकदम थम गया था। चौपाटी विद्युन्मालाओं की चादर में जगर-मगर कर रही थी और सागर का संगीत और भी मुखर, और भी तीव्र हो गया था। फिर कह चली नैना—जीजी के सिन्दूर की विवशता उस दिन स्वयं मेरे जीवन की सबसे बड़ी विवशता बन गई। उस विवशता के लिए स्वयं मेरा मन छटपटाने लगा। मैंने उस फैले आँचल में अपना सर्वस्व उड़ेल दिया, जीजी ने आँचल समेट कर मेरा मन भी उसमें समेट लिया। तब एक दिन उनके घर गई। देखा उनके अभाव को, उनकी दयनीयता को, उनकी उखड़ी-पुखड़ी गृहस्थी को। न जाने क्यों मुझे उसी बियाबान पर मोह हो गया। एक सपने में माती वहाँ से चलने लगी तो जीजी ने मेरे दिए हुए कुछ रुपए लौटा दिए। मेरे मन को बड़ी चोट लगी बेंदी, क्षण भर में ही जैसे अपने स्वर्ग से नरक में ढकेल दी गई। मेरा सपना चूर

हो गया, शायद मैं बहुत आगे बढ़ गई थी। भूल गई थी कि मेरा तो समाज में कोई सम्मान नहीं है। भ्रम का टूटना बड़ा दुखदायी होता है। बिंदिया, जीजी ने आँख में उंगली डालकर दिखा दिया कि मेरा स्थान वह नहीं है। मेरे अन्दर की भूली नैना चीख पड़ी, चिल्लाकर पूछना चाहा—– पूछा भी कि तब उस दिन इसी नैना के आगे आँचल क्यों पसारा था, लेकिन जीजी ने फिर अपने सिन्दूर की विवशता पर मेरा मुँह बन्द कर दिया। न जाने इस बीच उस घर में क्या हो गया, जीजी को क्या हो गया—कुछ भी जानने का साधन नहीं रहा। फिर एक दिन रामदीन से छिपाकर अपनी पूजा भेजी, कुछ रुपए—पर जीजी ने लौटा दिया। मेरा मन एकदम जाने कैसा कर उठा। मुझसे वह चोट सही नहीं गई। उसके बाद एक दिन लालाजी ने आकर बताया, उनके प्रेस में एक कोई शायर दिलकश हैं—उनकी औरत ने अपनी ग़रीबी से तंग आकर फांसी लगा ली। बात कुछ नहीं थी बेंदी लेकिन सब अलग-अलग बातें मिलकर मेरे मन पर ऐसी जम गईं कि मैं फिर वहाँ रह नहीं सकी। तब से मारी-मारी फिर रही हूँ, कहीं मन को शान्ति नहीं मिल रही है।

यह तो बिंदिया भी समझ रही है। मन को शान्ति नहीं है, यह बिना बताए भी जाना जा सकता है।

फ़्लैट के खुले द्वार से एक मोटी-सी काली-कलूटी स्त्री अन्दर आई, गोद में एक वैसा ही काला-कलूटा गदबदा-सा बालक लिए। बच्चा अपने नन्हें से कलेजे की पूरी शक्ति के साथ चिल्ला रहा था। स्वर सुनते ही नैना जैसे समाधि से जाग उठी, व्यस्त होकर आगे बढ़कर बच्चे को गोद में ले लिया और छाती से चिपका लिया। बच्चा जैसे इसी पराई गोद की प्रतीक्षा कर रहा था, स्तनों के बीच मुँह छिपाकर दुबक रहा। रुदन उसका शान्त हो गया, केवल रह-रह कर हिचकी ले लेता

था। कुछ क्षणों बाद एक बार उसने मुँह घुमाकर उस स्त्री की ओर देखा फिर और भी नैना की गोद में दुबक गया। आगन्तुका ने उलाहने के स्वर में कहा— मैं इसकी माँ हूँ कि बैरिन? मैं पूछती हूँ, आप जब चली जायँगी तब क्या होगा?

नैना ने गोद की निधि को सम्हालते हुए हँस कर उत्तर दिया— जाऊँगी तो इसे लेती जाऊँगी।

फिर उसकी आँखें भीग आईं, कहा—तब परच जायगा चुन्नी। बच्चा है न, अभी सामने हूँ तो देखकर रोता है। न रहूँगी तो इसे याद भी नहीं आएगी। तुम जाकर अपना काम करो, सो जायगा तो भेज दूँगी।

आगन्तुका निश्चिन्त हो चली गई। एक कृतज्ञता उसके मुख पर खेल रही थी। बिंदिया एक ऐसा दृश्य देख रही थी जो उसकी कल्पना के परे था। नैना कमलनाल-सी गोरी-गोरी बाहों के पालने पर उस काले-कुरूप बालक को परम तृप्ति के साथ धीरे-धीरे झुलाने लगी, मुख पर वात्सल्य का शान्त मधुर भाव था और कोकिल-विनिन्दक कण्ठ से लोरी की गुनगुनाहट :—

आ जा री निंदिया तू आ क्यों न जा,
मेरे लालन की आँखों में घुल-मिल जा।

सच ही कहा था नैना ने अभी थोड़ी देर पहले, कि सबकी जानी-पहचानी नैना मर गई है। कौन पहचानेगा इस ममता की मूर्ति नैना को? जैसे इन कुछ ही दिनों में उसका नवीन संस्करण हुआ है, जीवनेतिहास के शब्द-शब्द का अर्थ कुछ और हो गया है, जैसे वह नैना अतीत की एक भूली-बिसरी याद बनकर रह गई है। आज की नैना उस नैना को ढूंढे भी नहीं पाती। और यह आमूलचूल परिवर्तन हुआ है अनजाने—चाह कर यह परिवर्त न नैना अपने में न ला पाती, उसका

स्वभाव ही ऐसा नहीं था। बच्चा सो गया था। नैना ने एक बार दुलार से उसे देखा और एक दबी हुई निःश्वास अनचाहे निकली। बिंदिया की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—ले जा बेंदी, उसे दे आ।

इतनी देर बाद बिंदिया को जैसे-तैसे मुक्ति मिली। बच्चा लेकर देने चली तो द्वार तक जाकर वह फिर उठ गया, नैना की ओर हाथ बढ़ाकर फिर चीखने लगा। नैना ने हाथ बढ़ाकर ले लिया, बोली—गोद पहचानता है रे। अभी कच्ची नींद में है। तू मेरा बिछौना ठीक कर दे, लेट कर सुला दूँगी। चुन्नी अभी काम में लगी होगी।

बिंदिया को अब असह्य हो गया, मुँह बनाकर कुढ़कर बोली—मालकिन, अपने साथे हमैरौ तौ धरम लिहौ। चुन्नी की जात का कौनो पता है? तब्बौ हम कौनो विधा मन को समुझायन कि जब मलकिन छूत-छात नहीं मनती हैं तब हे मन, तू कहाँ तक बरइहौ। पर अब ई तो हमसे न होई मलकिन कि आप अपने बिछौना पर जात-कुजात; सबके बच्चन के सुताऔ औ हम देखी।

आश्चर्य है कि नैना को क्रोध नही आया, मुसकिराकर कहा—बिछौने पर मोमजामा बिछाना भूल मत जाना। चल, मैं चलती हूँ।

आठ बज रहे थे जब लालाजी लौटे। बिंदिया रसोई में व्यस्त थी। उन्होंने खाने के कमरे में आकर देखा, टेबुल पर चाय का सरंजाम सजा है। लगता है, नैना ने भी चाय नहीं पी। वह दूसरे कमरे में गए, पार्टीशन लगाकर जो ड्राइंग रूम और बेड रूम, दोनों का काम देता था। नैना गहरी नींद में माती सो रही थी, एक बाँह पर सिर रखे वही चुन्नी का बच्चा सो रहा था। लालाजी को बहुत अटपटा लगा। चुन्नी, कुछ भी हो, नीचे वाले फ्लैट में रहने वाले परिवार में नौकरानी है। नौकरानी के बच्चे से इतना नेह नैना लगाए, यह उन्हें कुछ बहुत अच्छा नहीं लगता था, कई बार संकेत से वह अपना अभिमत व्यक्त भी कर चुके थे। नैना

ने कान नहीं दिया। पर यह तो एकदम नहीं सहा ज़ा सकता। वह बिंदिया को पुकारने जा ही रहे थे कि बच्चा कुनमुनाया, नैना जाग गई। उठते ही उसने लालाजी को देखा, जैसे सेंध लगाते पकड़ ली गई हो—बच्चे को थपकते हुए उठ बैठी, पूछा—आप कब आए? आज बड़ी देर कर दी?

लालाजी का क्रोध नैना के स्वर पर कपूर बन गया, फिर भी भारी गले से उत्तर दिया—अभी आया हूँ। पर यह.... यह तो ठीक नहीं है नैना!

नैना—बहुत रो रहा था, चुन्नी का सारा काम पड़ा था। अब भेज देती हूँ। जाने इसको क्या है, मेरे पास आकर चुप हो जाता है। बेंदी, ओ बिंदिया! चाय मेज़ पर लगा दे।

वह बहुत व्यतिव्यस्त होकर पुकारती हुई उठी, जैसे इस प्रसंग को बन्द कर देना चाहती हो। बिंदिया आ गई थी। लालाजी ने बात का सूत्र पकड़कर कहा—अब चाय क्या पियूँगा, देर हो गई है। यों पीकर भी आया हूँ। तू खाना ही बन जाने पर लाना बेंदी।

नैना बोली—इसे अब चुन्नी को दे आ बिंदिया। सम्हाल कर उठाना, नहीं जग जायगा।

बिंदिया ने धीरे-से बच्चे को उठा लिया और ले गई। लालाजी ने खूंटी पर कोट टाँगते हुए उस ओर देखकर कहा—और तुम भी तो इसके पीछे पागल रहती हो! कितनी बार तो समझाया!

तुम्हारा समझाना ही तो सब कुछ नहीं है! तुम्हें कैसे समझाए नैना कि इस काले-कलूटे, कुरूप बच्चे को गोद में लेकर उसकी छाती के भीतर क्या होने लगता है! उसकी कोख की कसकन कचोट उठती है, उस कोख की जो सदा सूनी रहने के लिए बनी है, जो कभी भरी-पूरी नहीं होगी। जिसकी जायी सन्तान कही जायगी जारज। माँ बनने

की आशा उसे नहीं है। उसका नारीत्व ही जब ठुकराया हुआ है तो माँ बनने का अधिकार उसे कब है? यह सब अधिकार उसका छिन चुका है। लालाजी की व्यवसायी बुद्धि मर्म की यह बात समझने में असमर्थ थी। कुछ ऐसी भी माँग हो सकती है जो मुँह खोलकर कही नहीं जा सकती, यह वह कहाँ समझते थे? कुर्सी पर बैठते हुए बोले— मैं तो अब यहाँ से चलना चाहता हूँ। यह बम्बई भी कोई रहने की जगह है? जहाँ आदमी आदमी नहीं मशीन है। और पैसे कमाने के कैसे-कैसे लटके हैं यहाँ? आज एक ऐसी बात देखी कि हँसी भी आई और आदमी की बुद्धि पर आश्चर्य भी हुआ।

नैना उनके मुँह की ओर केवल देखती रही। लालाजी बात बदल कर आगे बोले—अभी जब आ रहा था तब एक जगह बड़ी भीड़ देखी। मैं भी रुक गया। एक पारसी बुढ़िया से एक आदमी झगड़ रहा था कि उसकी मज़दूरी चार आने हुई। बुढ़िया दो आने दे रही थी। और यह मज़दूरी क्या थी? असल हँसने की बात तो वही थी। बम्बई की सड़कों पर इस पार से उस पार जाना कभी-कभी बड़ा कठिन होता है, सवारियों का ऐसा तांता लगता है कि न पूछो—मोटर, बस, ट्राम, टैक्सी, फ़िटन सभी तो हैं! और एक दो नहीं सैकड़ों-हजारों! तुमने तो देखा ही है। उस रेल-पेल में ज़रूरतमन्द और जवान आदमी तो बच-बचाकर, देर-सबेर इस पार से उस पार चला जाता है पर बूढ़े-बुढ़ियाँ, बच्चे तो बहुत देर तक खड़े रह जाते हैं। अब कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने आदमी की इस मुश्किल को भी धन्धा बना लिया है। वह इसी का अभ्यास करते हैं। मौक़े की ताक में रहते हैं, जहाँ किसी बूढ़े-बुढ़िया को देखा कि सड़क के पार जाना है और सवारियों की रेल-पेल लगी है, चट हाथ पकड़ा और बचाकर उस पार पहुँचा दिया। अब लाओ मज़दूरी। यह कुछ-कुछ वैसा ही हुआ जैसे बैतरनी के पार जाने के लिए गऊ की पूँछ

पकड़ना। पर यह बम्बई है भाई जहाँ फ़ुटपाथ पर सोने के लिए ख़ून तक हो जाते हैं।

नैना चुप रही। शायद वह सोच रही थी कि यह उद्‌गार, पैसे कमाने वालों के प्रति उपहास-भरा यह मन्तव्य वह आदमी प्रकट कर रहा है जो स्वयं व्यवसाय में सफल होने के लिए नित्य नए-नए बाँधनू बाँधता रहता है। किन्तु लालाजी इस समय मूड में थे, कहते गए—आज के युग का सबसे बड़ा धरम है पैसा। पैसा अगर तुम्हारे पास है, तुम समाज में सफल हो। तुम्हारी ओर कोई उँगली नहीं उठा सकता। और पैसे की ज़रूरत सबको है, पेट सबको भरना है। वह किसी ने कहा है न—आवश्यकता आविष्कार की जननी है, तो यह सब वही हो रहा है। बम्बई है पैसेवालों के लिए, सेठों के लिए, मशीन बन गए आदमियों के लिए या फिर फ़ुटपाथों पर पड़ कर सो रहने और उस सो रहने के स्थान के लिए भी दूसरे फ़ुटपाथी साथी की हत्या कर डालने वालों के लिए। उन सुफ़ेदपोशों के लिए बम्बई नहीं है जिनकी मर्यादा ढँकने के प्रयत्न में उघड़ी जाती है। फिर भी रोज़ अनगिनत आदमी—स्त्री-पुरुष दोनों—काम की खोज में हिन्दुस्तान के हर कोने से बम्बई भागे आते हैं और बम्बई सबको अपने भाड़ जैसे पेट में समाती जाती है। यहाँ चोर-डाकू भी आते हैं, साधु-महात्मा भी। सती भी रहती हैं और शरीर का सौदा भी खुले आम होता है। ख़ूनी और हत्यारे भी इन्हीं सड़कों पर घूमते रहते हैं, दूसरों के लिए अपनी जान देनेवाले भी। इतने विशाल जनसमुदाय और रोज़ बढ़ने वाली मानवराशि को कितने सहज भाव से और निर्लेप, बम्बई अपने में आत्मसात् करती जाती है।

नैना को लगा कि उसका अधिक देर चुप रहना उचित न होगा। लालाजी न जाने क्या सोचें! वह अपने ही मन के साथ उलझ रही थी किन्तु ऊपरी दिखावे के स्वर में ही लालाजी की बातों में रस लेते

हुए पूछा—फ़ुटपाथ पर सोने के लिए हत्या होती है?

लालाजी—होती है, इसमें आश्चर्य क्या है? एक अखबार में मैंने पढ़ा था, बम्बई में अभी जितने आदमी हैं अब उनकी संख्या न बढ़े तो, रहने की समस्या तब सुलझ सकती है जब तीन लाख मकान यहाँ और बनें। और यह तीन लाख मकान भी सात-सात, आठ-आठ, मंजिल के हों जिनमें दरबे जैसी कोठरियों में आदमी कबूतरों की तरह भरे जायँ। तपस्या करने पर भगवान शायद मिल जायँ, बम्बई में मकान नहीं मिल सकता। हम ही क्या एक महीने रहने को जगह पा जाते? सेठ कालू-लाल दफ़्तर में रहते हैं, अपना फ़्लैट हमें दे दिया। कितने तो तरीक़े हैं—"पेइंग गेस्ट", "ओनरशिप बेसिस", "केयर टेकर बेसिस", "एडवांस बेसिस"—बाप रे बाप, सीधे-सीधे किराये पर मकान लेने की बात भी नहीं हो सकती। ऐसे में आदमी फ़ुटपाथ पर न रहे तो क्या करे? शादी-ब्याह, खुशी-ग़मी, जनम-मरण सब उसी फ़ुटपाथ पर हो जाते हैं। लेकिन फ़ुटपाथ पर भी तो जगह चाहिए, ऊपर से पुलिस तंग करती है सो अलग। इसीलिए कभी-कभी वहाँ दंगा हो जाता है, छुरे निकल आते हैं, पुलिस दस-पाँच को बाँध कर ले जाती है और फिर सब शान्त, जैसे कहीं कुछ हुआ ही नहीं। फ़ुटपाथ की बस्ती ज्यों की त्यों हरी-भरी, बसी रहती है।

नैना सिहर उठी इस वर्णन पर, दिलकश की पत्नीवाली घटना के बाद उसका मन इन छोटी-छोटी बातों पर डोल उठता था। कहा उसने—सेठ कालूलाल बिचारे हमारे लिए कितना कष्ट उठा रहे हैं, अपना फ़्लैट हमें देकर खुद दफ़्तर में रहते हैं। किराया भी तो नहीं लेंगे शायद!

दूसरे कमरे में बिंदिया मेज़ पर खाना लगा रही थी, बर्त्तनों की खट-पट हो रही थी। लालाजी ने मर्मभरी हँसी हँसते हुए उठकर कहा—चलो, भूख लगी है। किराया लेंगे वह? भारी घाघ हैं, लम्बी रक़म

मारने के चक्कर में हैं। वहीं तो आज इतनी देर हो गई। लगता है, फाँस कर रहेंगे। मैंने तुम्हारे ऊपर बात टालकर आज छुट्टी ली। कल फिर सिर पर सवार होंगे। खाना खा लें, तब बात की जाय। फ़्लैट हमें ऐसे तो दिया नहीं है!

नैना के मन में एक कुतूहल जगाकर लालाजी खाने की टेबुल पर जा बैठे। लालाजी से कोई आदमी रुपए ऐंठना चाहता है, कुतूहल इसके लिए नैना को नहीं था। उनके रुपयों का मोह नैना की माँ ने किया था, नैना ने नहीं। सुख सबको प्यारा होता है, नैना को भी था। हर स्त्री रुपए-पैसों से भरी-पुरी रहना चाहती है। किन्तु वन्दना से परिचय के बाद नैना के मन में एक अजनबी वितृष्णा भरती जा रही थी। पैसों की सफलता तब है जब उसका कोई उपयोग हो। लालाजी के पैसों का उपयोग लालाजी के लिए हो, नैना अपने को उसमें उलझा नहीं पाती थी। वन्दना जीजी ने जिस दिन उसकी पूजा अस्वीकार कर दी, जिस दिन उसके रुपए उसके काम भी नहीं आ सके जिनके चरणों पर निवेदित होने में चरम-सार्थकता थी, उस दिन उसके लिए वह परम व्यर्थ हो गए। तभी नैना को रुपयों के लिए कुतूहल नहीं हुआ, कुतूहल हुआ उस काम के लिए जिसके लिए सेठ कालूलाल अपना फ़्लैट लालाजी को देकर खुद दफ़्तर में रह रहे हैं और जो बात लालाजी ने आज नैना पर टाल देकर छुट्टी पा ली है। नैना से तो वह कभी काम-धाम की बात नहीं करते, आज जब उन्होंने सेठ कालूलाल से नैना के बहाने ही छुट्टी पाई है तब ज़रूर इनके अपने काम के बाहर की बात होगी।

खाने के बाद बिंदिया तम्बाकू चढ़ा कर रख गई। समूची बम्बई छान कर लालाजी ने पान की एक दूकान का पता लगाया था जो मघई पान रखता था। वहीं से पान आता। बिंदिया वह भी रख गई। रात झुक आई थी और वातावरण अपेक्षाकृत शान्त हो गया था। लालाजी

ने सटक से एक-दो बार धुआँ खींच कर समीप ही दूसरी पलंग पर लेटी नैना से कहा—सेठ कालूलाल बम्बई में फ़िल्म का धन्धा करते हैं। दो-तीन पिक्चर बना चुके हैं, कुछ ज्यादा चली नहीं। अब इधर-उधर से फिर कुछ रुपए इकट्ठा करके नई पिक्चर में हाथ लगाया है—"जंगल की रानी"। मुझसे पचास-हज़ार रुपये लगाने को कह रहे हैं। उनका दावा है कि यह पिक्चर "हिट" जायगी और कम से कम तीन लाख में जायगी। कई नामी सितारों को रखा है—नवीनकुमार, मुख्तार अहमद, मिस सुनयना, असग़री बेगम—न जाने क्या-क्या नाम बता रहे थे। परसों से जान खा रहे हैं। आज चाय पर भी बुलाया था, एक नई लड़की भी आई थी जो पिक्चर के आखिरी सीनों में काम करेगी। सबसे मिलाया। उस नई लड़की की बड़ी तारीफ़ कर रहे थे। मुझे भी बड़ी भोली लगी, नई-नई बम्बई आई है और कल सेठ को अपने स्टूडियो के फाटक पर मिल गई। पठान दरबान धक्के देकर हटा रहा था तभी कालूलाल की मोटर आई। लड़की उन्हें भा गई और रख लिया।

नैना चुपचाप सुन रही थी। स्पष्ट था कि उसे इसमें रस नहीं आ रहा है। उसकी दृष्टि में प्रश्न था—तो मैं क्या करूँ? लालाजी को आश्चर्य तो हुआ किन्तु इस उदासीनता पर विशेष ध्यान उन्होंने नहीं दिया। कुछ सोचते हुए आगे बोले—तुमसे पूछकर उत्तर देने के लिए उनसे कह आया हूँ। पचास हज़ार रुपयों की बात नहीं है, अगर आगे चलकर लाभ होता है तो कहीं न कहीं से जोड़-तोड़ कर लगा दे सकता हूँ। बस, यही डर है कि इस लाइन को मैं समझता नहीं हूँ। कहीं रुपया डूब न जाय। सेठ कालूलाल जीवट के आदमी हैं, दो-तीन पिक्चरों में घाटा होने पर भी मैदान में डटे हैं। मेरा तो एक बार रुपया डूब गया तो बधिया बैठ जायगी। अब जैसा तुम कहो। कल उन्हें साफ़ जवाब देना होगा।

नैना—जिस काम को आप समझते नहीं उसमें हाथ क्यों डालते हैं? उनसे कह दीजिए।

लालाजी—यही सोचता हूँ, लेकिन मन में एक दुविधा है। अगर जैसा वह कहते हैं, पिक्चर चल गई तो एकदम एक लाख मुझे मिल जायेंगे। एक लालच और भी है। वह कहते हैं, अपनी कम्पनी का नाम वह तुम्हारे नाम पर रख देंगे—नैना कला-मन्दिर। पिक्चर चल गई तो उसके साथ-साथ तुम्हारा नाम भी चमक उठेगा। बातें तो बहुत कर रहे थे। कला की सेवा होगी, बहुत-से लोगों को नौकरियाँ मिल जायेंगी,—यह सब बात तो मैं समझता नहीं भाई, यही सोचता हूँ कि जब इतने बड़े-बड़े फ़िल्मी सितारों को जमा किया है तो शायद पिक्चर चल ही जाय!

नैना ने समझ लिया कि लालाजी के अन्दर की वणिक-वृत्ति कसमसा रही है। प्रलोभन बड़ा है और शायद अपरिहार्य है। कहा उसने—तो लगाइए रुपया। खतरा तो है, लेकिन बिना ख़तरे के व्यापार कैसे होगा? आखिर वह भी तो आदमी हैं। और फिर आप भी तो कह रहे हैं, जब इतने बड़े-बड़े सितारे जुटे हैं तो पिक्चर चल ही जाय शायद!

लालाजी ने प्रसन्न होकर नैना की ओर करवट ले ली, बोले—सितारों की कहती हो, यह नाटक फ़िल्म-लाइन का धन्धा ही ऐसा है कि आदमी उत्तू बन कर रह जाय। जो बात दुनिया में न हो, इन नाटक वालों से सीख लो। अब वह बड़े सितारे तो खैर, बड़े-बड़े पार्ट करेंगे। उनको तो अच्छा होना ही चाहिए। लेकिन यह फ़िल्म वाले नौकरानी भी दिखायेंगे तो ऐसी कि रानियाँ पानी भरें। अब उसी लड़की को ले लो—भला-सा नाम बताया था उसका, अर्चना—हाँ, तो वह अभी काम करना कुछ नहीं जानती। कहीं से क़िस्मत की मारी बम्बई आ गई है। सो सेठ कालूलाल के पास पहुँच गई। एक जंगली लड़की का पार्ट उसे देने को कह रहे थे, सात सौ रुपए उसे देंगे। पर बला की खूबसूरत है।

वह नवीनकुमार और सुनयना और असग़री, सब नाम बड़े और दर्शन थोड़े। उसके सामने फिट्टे पड़ गए थे।

लालाजी के मुँह से उस लड़की के रूप का बखान नैना को कुछ बहुत अच्छा नहीं लग रहा था! जो रसलेकर वह बात कर रहे थे वह उसके लिए नया था। मैन्टलपीस की घड़ी बारह बजा रही थी, आकाश मेघमुक्त हो गया था और कक्ष के चौखट पर चाँदनी खड़ी भीतर आने की बाट जोह रही थी। प्रकाश से जैसे उसे डर लग रहा हो। नैना ने बेड-स्विच दबाकर बत्ती बुझा दी। लालाजी ने पूछा—अब सोओगी? तो उन्हें क्या उत्तर दूं?

नैना ने चादर ऊपर खींचते हुए कहा—समझ लीजिए। यदि लाभ की गुंजायश है तो यह भी कर देखिए। काम बुरा नहीं है।

लालाजी जैसे अपने अवचेतन मन में नैना से यही उत्तर सुनने के लिए लालायित थे। अँधेरे में उनका प्रसन्न-मुख नैना देख नहीं सकी। लालाजी ने कहा—अब तुम फ़िल्म-कम्पनी की मालिक बनोगी नैना, जैसे गौहर और चन्दूलाल शाह।

अपनी बात की कुरूपता वह स्वयं नहीं समझे। नैना बिचारी तो कुछ जानती ही कहाँ थी? सबेरे अभी आठ भी नहीं बजे थे कि टेलीफ़ोन की घंटी बजने लगी। जलपान छोड़कर लालाजी को उठना पड़ा, जाते-जाते कहते गए—कालूलाल ही होंगे। रात भर उन्हें नींद भला क्यों आई होगी!

दूसरे कमरे से नैना ने सुना, लालाजी टेलीफ़ोन पर कह रहे थे—हाँ, मैं हूँ कृष्णसहाय। राम-राम भाई! क्या? अरे नहीं, कष्ट कैसा? हाँ, अभी चाय पी ही रहा था।....नहीं, भूल कैसे जाता? रात ही नैना से बात कर ली थी। वह तो तैयार हैं पर एक शर्त है उनकी। हाँ हाँ, घर की तो बात ही है। अब तुम जानो, दमड़ी की हाँडी भी आदमी अपने जाने

ठोंक बजा कर लेता है।....तो तुमको ग़ैर कब समझता हूँ भाई?... तो उनकी शर्त है कि वह खुद एक दिन आकर तुम्हारे नवीनकुमार और मुज़फ्फर हुसैन...हाँ हाँ वही मुख्तार अहमद और सुनयना, सबसे मिलेंगी और स्टूडियो देखेंगी। क्या? आज ही चार बजे? ऐसी जल्दी क्या है? फिर कभी रखो। ...जल्दी है? पिक्चर रुकी है? अच्छा ठहरो, पूछ लूँ—हाँ हाँ, तुम्हारी ही ओर से।....(कुछ क्षणों बाद) अच्छा भाई, आज ही सही। सबको बुला लेना। उस नई लड़की को भी—क्या नाम है उसका, जिससे कल भी मिलाया था—अंजना देवी, हाँ भूल गया —अर्चना—तो उसको भी बुला लेना।....अच्छा, स्टूडियो में ही रहने की जगह दे दी है?...तो हम पाँच बजे तक तो ज़रूर आ जायँगे। अच्छा भाई, राम राम।

लालाजी के लौटने पर नैना ने पूछा—मैंने कब आपसे कहा कि मैं उन लोगों से मिलूँगी और स्टूडियो देखूँगी?

हँसते हुए लालाजी ने उत्तर दिया—तुमने कहा नहीं पर जिस काम की मालिक बनने जा रही हो उसे देखना तो चाहिए। काम करनेवालों से मिलना तो चाहिए। व्यवसाय में बिना झूठ बोले काम नहीं चलता। और उसमें हर्ज ही क्या है, एक बार यह दुनिया भी देखो। सेठ कालूलाल तो जब बात ही करते हैं तो मेरा माथा चकरा जाता है, "स्पाट", 'फ्लड", "मेकप और कस्ट्यूम", "आउट डोर और इन डोर शटिंग", "फ़ेड आउट", "क्लोज़ अप", "मिड शाट"—जाने क्या भारी-भारी बातें फटाफट उगलते रहते हैं—मेरे पल्ले तो कुछ पड़ता नहीं। एक दिन स्टडियो दिखाया, कहने लगे यह लेबोरेटरी है, यह स्टूडियो नंबर वन, यह टू, यहाँ एडिटिंग होती है, यह आर्क्स हं। मुझे तो लगा कि किसी दूसरी दुनिया में आ गया हूँ। कहीं मचान बँधा था, उस पर विल्लयों की तरह कुछ आदमी भारी-भारी लाइट लिए दुबके हुए थे, एक ठेले पर फ़ोटो का कैमरा लदा

था जो आगे-पीछे खिसकता था, एक कोने में नकली जंगल बनाया था और हीरो और हीरोइन डायलाग बोल रहे थे। तुम भी यह सब देखोगी।

नैना को कोई कुतूहल हुआ या नहीं, लालाजी जान नहीं सके। वह मन में सेठ कालूलाल का साझीदार बनने का निश्चय कर चुके थे, जानते थे कि नैना विरोध नहीं करेगी, केवल उसका मन जानने के लिए कुतूहल पैदा कर रहे थे। किन्तु उसकी ओर से स्पष्ट औत्सुक्य न पाकर भी उनकी लाभाभिमुख वाहिनी व्यवसाय-बुद्धि विचलित नहीं हुई। सुख और और अधिक सुख—और भी अधिक सुख स्त्री की सबसे बड़ी दुर्बलता है, यह वह मानते थे और शत-प्रतिशत सुख का प्रमुख साधन है पैसा जो स्त्री दोनों हाथों से पकड़ती है। परिग्रह से मुक्त नारी नहीं है। नैना की माँ ने एक दिन यही सब देखकर लालाजी के सूखे हाड़ों के साथ नैना के रस-उच्छल तन्वंग को बाँध दिया था। लालाजी मौन सहमति पाकर ही प्रसन्न हो गए थे। यदि वह विरोध करती तब अवश्य स्थिति कठिन हो जाती।

दिन भर लालाजी आज नैना को बम्बई घुमाते रहे. हैनिंग गार्डेन्स, ताजमहल होटल, फ़्लोरा फ़ाउन्टेन, म्यूज़ियम—जाने कहाँ-कहाँ। ऐसा न हो कि उसका मन बदल जाय। जू ले जाकर जानवरों की उछल कूद भी दिखा लाए। खाना भी बाहर ही खाया। अन्त में लगभग तीन बजे टैक्सी में घर लौटते समय नैना ने कहा—अच्छा, अगर मैं आज सेठ कालूलाल के यहाँ न जाऊँगी तो कोई हर्ज है? आप हो आइए।

लालाजी को अपने नीचे की ज़मीन धँसती-सी लगी, बोले—और उसने जो सबको बुला लिया होगा?

नैना—तो आप तो जा ही रहे हैं। बात तो आपको करनी है। मैं गई गई, न गई।

अब लालाजी किंचित् कठोर पड़े—लेकिन कम्पनी तुम्हारे नाम से चलेगी। उसने सबसे कह दिया होगा कि तुम आ रही हो। आखिर हो क्या

गया? अब तक तो चलने को तैयार थीं!

नैना ने उड़ता-सा उत्तर दिया—तैयार मैं अब भी हूँ पर मन जाने कैसा-सा हो रहा है। कुछ अच्छा नहीं लग रहा है।

टैक्सी वाला गाड़ी चलाते समय भी कान इधर ही लगाए था। इस वय के आदमी के साथ अल्पवयस्का युवती को देखकर उसे कुछ विशेष आश्चर्य हुआ हो यह बात नहीं, बम्बई में इतने दिन उसे रहते हो गए थे, किन्तु मनष्य का कुतूहली स्वभाव जाता नहीं। लालाजी ने बात न बढ़ाते हुए केवल इतना ही कहा—धूप में घूमते रहने से ऐसा हुआ है। वहाँ चल कर बैठी रहना।

लालाजी नहा रहे थे और नैना तयार हो गई थी। रेशम की सफ़ेद साड़ी में उसका आभरणहीन रूप निखर आया था। बिंदिया उतारी हुई साड़ी तह करके रख रही थी। टेलीफ़ोन की घंटी बजने लगी। लाला-जी ने अन्दर से ही पुकार कर कहा—नैना, ज़रा सुन लेना।

नैना ने रिसीवर कान से लगाया, उधर से कोई कह रहा था—मैं सेठ कालूलाल का सेक्रेट्री बोल रहा हूँ। आप लालाजी के यहाँ से बोल रही हैं? कौन, नैना देवी? नमस्कार जी।...लालाजी को आज सेठ साहब के यहाँ आना था, जी आपके साथ। सो, सेठ की तबीयत यक-ब-यक खराब हो गई है? जी? हाँ, लालाजी चाय यहीं पियेंगे। और सब जो लोग आने वाले थे, वह कैन्सल हो गया है। सेठ साहब माफ़ी...जी हाँ, आपसे माफ़ी चाहते हैं। फिर कभी आपने तक़लीफ़ करनी होगी जी।...लालाजी जरूर आयें, सेठ की इल्तजा है। नमस्कार जी।...हाँ, मैं फाटक पर ही मिलूंगा।

लालाजी की समझ में कुछ नहीं आया। अभी सबेरे तक तो कालूलाल ठीक था। उनका उत्साह कुछ बझता-सा लगा। जब वह दादर, कालूलाल के स्टूडियो पहुँचे, फाटक पर सेक्रेट्री प्रेमनाथ मिला और दरबान ने सैल्यट

ठोंका। लालाजी की टैक्सी अन्दर गई। पोर्टिको में उतरते-उतरते लालाजी ने पूछा—कालूलाल जी को क्या हो गया? सवेरे तो टेलीफ़ोन किया था!

सेठ के कमरे में ले जाते हुए सेक्रेट्री बोला—खुद ही देख लेंगे जी।

लालाजी के अन्दर चले जाने पर सक्रेट्री बाहर से किवाड़ उठंगा कर हट गया।

लाला कृष्णसहाय को अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। सेठ कालूलाल उस लगभग अँधेरे कमरे में पलंग पर चुपचाप पड़े हुए थे, माथे पर पट्टी बँधी हुई थी। बात करने में दुर्बलता थी। बहुत देर तक फ़िल्म कंपनी के दोनों भागीदार उस अँधेरे कमरे में अकेले बातें करते रहे।

संध्या नैना के लिए दुखदायी होती थी। समय भारी होने लगता था। बम्बई का कटु कोलाहल ज्यों-ज्यों बढ़ता, उसका मन वैसे-वैसे ही उदास और परिगत हो उठता। क्या करे, क्या कुछ कर डाले जिससे तपते मन की ज्वाला पर कुछ छींटे पड़ जायँ! लालाजी के जाने के बाद, उदासी से भरी संध्या के एकांत, उद्वेगहीन नीरव क्षणों में आज उसके मन ने निश्चय कर डाला कि अब वह यहाँ से चली जायगी। बहुत हो गया, अपने भाग्य को चुनौती देकर वह पाएगी क्या? नैना तो वन्दना नहीं बन सकती, उसे तो सिन्दूरवती-सिमंतिनी का सम्मान नहीं मिलेगा! मृगतृष्णा ही तो उसके लिए है इस जीवन में! सुहागवती जिस पुण्यसलिला नीला-पांगि में अवगाहन कर अपने को प्रातःस्मरणीय बनाती हैं,उत्समुख उसका नना के लिए अवरुद्ध है! तब क्यों वह अपने को समझा नहीं पाती? वह अकेली तो नहीं है! न जाने कितनी नारियाँ ऐसी ही अपने अस्तित्व का उपहास लिए, संसार के कोने-कोने में, अनादृत जीवन-यापन कर रही हैं। वही क्यों इतनी दयनीय बन जाती है, लोग क्या समझते होंगे? यह बिंदिया ही क्या समझती होगी! नहीं, अब वह कठोर बनेगी। स्वयं

ही अपना अनादर नहीं करेगी। अपने अभिशाप को वरदान मानकर चलेगी।

कपोलों पर ढुलकते आँसुओं को उसने पोंछ लिया और कसकते मन से समझौता करने की चेष्टा में उठ खड़ी हुई। खिड़की के दोनों पल्ले खोलकर बाहर सड़क पर झाँकने लगी। महानगरी का आकर्षण बढ़ गया था, नई-नवेली सजी दुलहिन बनी बम्बई दीपमालाओं की सितारों-जड़ी साड़ी में अपरूप रूपाजीवा लग रही थी। सड़क के किनारे-किनारे लगी नियो न बत्तियाँ सागर के वक्ष पर लहरों के साथ उठती-गिरती लग रही थीं। नीचे फ़ुटपाथ पर एक पगला माँगनेवाला चला जा रहा था। विचित्र वेष था उसका—कमर में टाट का टुकड़ा लपेटे था और कन्धे पर से घुमाकर टाट का दुपट्टा बनाकर कमर में खोंस लिया था। बड़े-बड़े रूखे-सूखे बाल और वैसी ही दाढ़ी, नंगे पाँव। पास से एक भलेमानस निकले तो उसने पुकार कर कहा—ए मिस्टर, सुनना ज़रा।

मिस्टर रुके। पगला पास आया—एक सिगरेट।

मिस्टर ने हिकारत से देखा और आगे बढ़ गए। पगला हँसने लगा। नैना को भी हँसी आ गई। पगला सामने के बँगले की रेलिंग से टिक कर बैठ गया। गले में लटकी खंजरी पर ताल दे-देकर गाने लगा—

मरनो भलो बिदेस में जहाँ न अपनो कोय
माटी खाइँ जनावरा महा महोच्छव होय

बड़ा दर्द था उस कण्ठ में। गीत का एक-एक शब्द पगले के सुरों में अवतरित होकर पर्यावरण को भिगोने लगा। पगला अपनी धुन में यही दो पंक्तियाँ दोहराए जा रहा था, नैना के नयन अनजाने ही फिर बरस चले और अंचल भींग गया। न जाने क्या था उन दो पंक्तियों में? शायद पगले के जीवन का पुंजीभूत सत्य ही उसके कण्ठ से पिघल कर बह रहा था। और नैना का मन-प्राण उस स्वर पर रो उठा—चीत्कार कर

उठा। कितना दुख है दुनिया में! यहाँ कोई कैसे रहे ?

बिंदिया ने आकर बत्ती जलाई। नैना ने तुरन्त आँसू पोंछकर हँसने की चेष्टा करती हुई कहा—अरे, रात हो गई बेंदी।

बिंदिया—धोबी का कपड़ा लिख देव मालकिन !

मैले कपड़ों को लिखवाते समय लालाजी की कमीज़ की जेब से चीज़ें निकालकर धोबी ने वहीं दीवान पर रख दिया और कपड़े गिन कर चला गया। उसके जाने के बाद बिंदिया से नैना ने कहा—बेंदी, बिलहरा ले जाकर ताजे पान लगा दे।

बिंदिया बिलहरा लेकर चली गई। नैना ने जेब से निकली मड़ी-तुड़ी चिट्ठी उठाली और यों ही पढ़ने लगी। पत्र उसके नाम था। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, यह पत्र कब आया ? एक-एक शब्द वह पढ़ती जाती थी और अपने को रोकना उसके लिए कठिन हो रहा था। पत्र समाप्त करते न करते अश्रुसागर का बाँध टूट गया, माथे की नसें तन गईं और वह वहीं चेतनाहीन हो लुढ़क गई। अंधकार, काला. दुर्भेद्य तमतोम जाल—पत्र हाथ से छूट गया। नैना की संज्ञा लुप्त हो गई।

लालाजी जब लौटे तब नैना मूर्च्छित पड़ी थी. उसका मस्तक बिंदिया की जाँघ पर था। काली-कलूटी चुन्नी भीतर-बाहर आ-जा रही थी। वह पत्र. जो लालाजी नैना को देना भूल गए थे वहीं धरती पर पड़ा अपनी कथा कह रहा था।

सेठ कालूलाल के यहाँ काम करने आई हुई नई लड़की—अर्चना—कालूलाल के माथे पर कलंक का टीका देकर उसी दिन दोपहर को चली गई थी।

●

तेरह

परबतिया मुहल्ले के प्रायः प्रत्येक परिचित-अपरिचित घर में पूछ-ताछ कर आई। हर घर से उसे लगभग एक ही उत्तर मिल सका—'पहले हो कहाँ वह बहुत आती-जाती थीं पारबती! जब से पंडित जी बिल्कुल लाचार हुए हैं तब से तो और उनका दरसन दुर्लभ हो गया है। जल्दी-जल्दी परबतिया दूसरे घर जाने को बढ़ती। ड्योढ़ी लाँघते-न- लांघते उसे पीठ पीछे लगभग एक ही जैसा कुरूप प्रश्न सुन पड़ता—लेकिन सुन तो, आखिर बात क्या है? पंडित जी से कुछ खटक गई क्या? या, कुछ और बात है?

जैसे कुछ और बात होती, शिवनाथ को छोड़ वन्दना का मन सच ही कहीं और रमा होता तो मुहल्ले भर की गृहस्थ औरतें और पोपले मुँह वाली पुरखिनें अघाकर स्वस्ति की सांस लेतीं। उन्हें बात करने को कुछ मिलता और दिनभर, मर्दों के काम पर निकल जाने के बाद, छोटी-छोटी टोलियों में एकत्र हो वह अपने अवकाश का सदुपयोग करतीं। परबतिया से अपने उत्सुक प्रश्न का उत्तर न पाकर भी वह अपने कर्त्तव्य से मुँह मोड़ने वाली भला कब थीं? फूस की आग की तरह बात की बात में मुहल्ले भर के मुख पर एक ही मन्तव्य फैल गया था—पंडित

शिवनाथ की घरवाली कल रात से ही घर से निकल गई हैं।

मंगरू मिसिर दुलारी को कल संध्या समय 'ईसुर की किरपा' से कुएँ पर अकेली पा गए थे, बहुत देर तक रसबतियाव करते रहे थे। दुलारी ने उन्हें बहुत-बहुत आश्वासन किये थे, सो इस समय मन चंग पर था। मनराजी की चूड़ी वाली दूकान के तख़्ते पर अंगौछा से झाड़कर बैठते हुए बोले—सुना चाची, पंडित जी की घरवाली की बात?

मनराजी ने अभी-अभी घर से आकर दूकान खोली थी, कुछ समझी नहीं। पूछा—का हुआ भैया उनको?

मिसिर मर्मभरी हँसी हँसे—अरे, उनको क्या होगा चाची? अब तो पंडित जी जिन्दगी भर रोयेंगे। यह औरत की जात भी परमेसुरं की बनाई है। वह जो कहा है न कि तिरिया चरित्रं—सो कुछ झूठ थोड़े ही कहा है।

हिन्दुओं के मुहल्ले में उन्हीं के बीच रहकर बड़ी हुई मनराजी चाची को मुहल्ले भर के घरों की ख़बर है। वह ज़ात की पठान थीं और व्याह कर भी पठान के घर आईं किन्तु यह विवाह कुछ विचित्र सा हुआ, कम से कम उस ज़माने के लिहाज़ से। अपने यौवन के दिनों में उन्होंने एक प्रकार से प्रचलित प्रथा से विद्रोह किया था। अब तो वह निःसन्तान, पैंतालिस-पचास के सिन की विधवा हैं किन्तु काठी देखने से लगता है कि कभी सुन्दरी थीं। गोरा रंग, सुघर नख-शिख, दुबली-पतली और मीठा बोलने वाली। उनके पिता अपने ज़माने के नामी गुण्डा थे, दबदबा था और घर में चार पैसा था। कभी किसी ग़रीब को सताया नहीं, ज़रूरत-मन्द को लौटाया नहीं और मुहल्ले की बहू-बेटियों को बरग़लाया नहीं। किसी की अकड़ वह सह नहीं सकते थे, अन्याय-अत्याचार को टुकुर-टुकुर देखते रह नहीं सकते थे और ठकुरसुहाती कह नहीं सकते थे। इसीलिए वह गुण्डे थे, इसीलिए पीठ पीछे लोग उनकी बुराइयाँ करते।

उनका घर मुहल्ले भर के बच्चों के लिए खुला था, किसी को मिठाइयाँ खरीद रहे हैं तो किसी को लड्डू। कोई पीठ पर चढ़ा है तो कोई सिर-फिरा उनकी मूँछ ही खींच रहा है, और वह हैं कि हँसे जा रहे हैं। मनराजी के पति मियाँ मुस्तफ़ा के बाप पढ़े-लिखे तो वाजिब ही वाजिब थे, हाँ ईमानदारी से अपनी रोटी कमा लेते थे। वह कपड़ों की फेरी करते थे, कुछ थान अपनी पीठ पर, कुछ सत्रह-अठारह बरस के मियाँ मुस्तफ़ा की पीठ पर लादकर घर-घर आवाज़ लगाते थे और संध्या समय अपनी गाढ़े पसीने की कमाई लेकर घर लौटते थे। इसी फेरी में एक दिन मियाँ मुस्तफ़ा किसी और फेर में पड़ गए—मनराजी के हाथ सलूके की छींट बेचते समय अपने को बेच आए और दाम भी नहीं लिया। शाम को बाप ने डांटा-फटकारा तो दूसरे दिन दोपहर को भूले पैसे लेने मनराजी के यहाँ पहुँचे। वह बाहर निकली तो देखते रह गए, पैसे माँगना फिर भूल गए। मनराजी ने कहा—कल पैसे क्यों नहीं लिये? अम्मा बहुत बिगड़ रही थीं हमें!

मुस्तफ़ा—अम्मा से कहने आया हूँ कि पैसे हमको नहीं चाहिए। देना हो तो कुछ और दें।

चौदह वर्षों की मनराजी ने चंचल आँखें नचा कर पूछा—और कुछ क्या?

मुस्तफ़ा ने इधर-उधर देखा, फिर सन्नाटा पाकर धीरे से कहा—अब कैसे बताऊँ? -

तब लड़कियाँ स्कूल-कालेजों में शकुन्तला और रोमियो-जूलियट नहीं पढ़ती थीं। फ़िल्मी डायलाग बोलने और समझने उन्हें नहीं आता था। झूठ-मूठ का लाज और संकोच का प्रदर्शन भी वह नहीं जानती थीं और पाँच मिनट में पचीस बार अपने आंचल ठीक करने का नाटक भी वह नहीं करती थीं। प्रेम भी होते थे, विग्रह भी किन्तु

दोनों कृत्रिमता से मुक्त। लाज और संकोच भी वास्तविक होते थे। मनराजी सच ही मुस्तफ़ा की बात नहीं समझी, फिर पूछा—बताओगे नहीं तो कोई कैसे जानेगा कि क्या चाहिए! ठहरो, अम्मा को बुलाए लेती हूँ।

मुस्तफ़ा ने जल्दी से उसे पुकारने से रोका और पीठ पर का बोझा सम्हालते हुए जैसे बम फेंका—अम्मा से कहना कि बिगड़ती क्यों हैं? अगर कुछ देना ही है तो तुमको ही हमें दे दें।

'धत्'—कहकर फट से मनराजी ने किवाड़ मुस्तफ़ा के मुँह पर बन्द कर दिया।

मुस्तफ़ा के बाप ने सुना तो आग हो गए, उन्हें गुण्डे की बेटी से यह रिश्ता पसन्द न था। बात जब बढ़ी और मनराजी का मन भी जब उसके बाप ने पढ़ लिया तब पहले तो बहुत बिगड़े, फिर पसीज गए। गुण्डे के दिल में भी बाप की मुहब्बत थी। मुस्तफ़ा को जमाई के रूप में स्वीकार करने को वह तैयार हो गए, बल्कि घर-जमाई! लोग बीच में पड़े, मनराजी मुहल्ले भर की बेटी थी, और मुस्तफ़ा के साथ उसका विवाह हो गया। उसके बाद फिर मुस्तफ़ा लौट कर अपने घर नहीं गया। वही मनराजी कालान्तर में इस पीढ़ी में मुहल्ले भर की चाची हैं और सबके मन में उनके प्रति सम्मान है, आदर है।

मनराजी ने झाबे में से चूड़ियों का झब्बा निकाल कर आंचल से झाड़ते हुए कहा—तो मैं कोई नजूमी तो हूँ नहीं बेटा, कि बिना बताए जान लूँ। तेरी आदत मैं कोई आज से जानती हूँ? बात कहेगा नहीं, खाली सास्तर बांचेगा।

मंगरू—सास्तर की बात नहीं है चाची। क्या सच ही तुम्हें कुछ नहीं मालूम? इसी को कहते हैं कि दिया तले अँधेरा। जहान भर में तो सब लोग जान गए और तुम हो कि नाक के नीचे की बात नहीं जानतीं।

जहान भर में जिस बात को सब लोग जान गए उसे न जानकर चाची का कोई विशेष अनिष्ट हुआ हो, ऐसा नहीं लगा। शान्त भाव से बोलीं—कैसे जानती मैं? अभी तो घर से उठकर चली आ रही हूँ।

मंगरू मिसिर रस ले-लेकर सारी कथा कहने लगे। कैसे वन्दना पंडित शिवनाथ से फिरंट रहती थी, कब-कब मुहल्ले के किस-किसने उसे इस-उस से गली के अंधेरे में बातें करते देखा था, कैसे वह अक्सर घर से ग़ायब रहती थी और बहुत देर में लौटती थी, कैसे एक दिन कहीं से रात को गाड़ी-घोड़ा पर चढ़कर लौटी थी, पंडित जी को सीधा पाकर कैसे-कैसे उन्हें भूलभुलैया में रखती थी—जहाँ तक उनकी कल्पना उड़ान भर सकती थीं, बातों को वास्तविकता का रंग देकर वह बहुत देर तक बखान करते रहे। चाची इस बीच एक बार भी नहीं बोलीं। उन्हें अनुत्तर पाकर जब मिसिर का धीरज टूट ही रहा था तभी परबतिया दूकान के सामने पहुँच कर घबराई बोली—चाची, बहूजी नाहीं मिल रही हैं।

मिसिर ने इस दृष्टि से मनराजी की ओर देखा जैसे कह रहे हों—लो, अब तो विश्वास हुआ?

चाची ने, किन्तु, वैसे ही शान्त भाव से कहा—हाँ बिटिया, सुना अभी। आखिर जायँगी कहाँ? सबेरे का वखत है, कहीं गंगाजी-वंगाजी नहाए गई हुई हैं। बिटिया हमार कहीं जाय थोड़े सकत है!

परबतिया यहाँ से भी निराश हुई, आगे बढ़ी। चाची ने समझाया—देखो बेटा, मुहल्ले की इज्जत का सवाल है। बहू-बेटी सबकी बराबर होती हैं। औरत की इज्जत पर बहुत जल्दी दाग लगता है। बिना सबूत के कोई बात नहीं कहनी चाहिए। अव्वल तो दूसरे की चलनी का छेद गिनने हम जाँय ही क्यों? हमारा अपना चलन ही क्या दूध का धोया है? कोई दूसरा क्या है, क्या करता है यह देखने के पहले

हम यही क्यों न देखें कि हम क्या हैं! बिन्दोइया बेटी के बारे में तुमने जो कुछ कहा उससे मैं बिलकुल इत्तेफाक नहीं करती। वह कुछ करे पर वह सब नहीं करेगी जो तुम कह रहे हो। पर मैं इस पर भी रायजनी नहीं करूँगी, कारन कि मैं स्याह-सुफेद, कुछ भी नहीं जानती।

यह भी नहीं, वह भी नहीं—चाची से उपदेश सुनने मंगरू मिसिर सबेरे-सबेरे नहीं आए थे। उनका रस सूख गया, किसी और उत्सुक श्रोता की खोज में, कंधे पर अंगौछा रखते, उठ गए।

परबतिया का मन रो रहा था। वन्दना उसकी केवल मालकिन ही नहीं थी, चार पैसों का ही दोनों के बीच सूत्र नहीं था, पार्वती का वन्दना से सख्यभाव था। वह सच ही बहुत चिन्तित थी और प्रत्येक घर से निराशाभरा उत्तर पाकर उसकी चिन्ता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। ऐसा तो मालकिन ने कभी नहीं किया था! बिना किसी से कुछ कहे-सुने, इस तरह वह कभी नहीं गईं। पंडित जी के पास उनके पल-पल का लेखा-जोखा रहता था। जब सब संभव-असंभव स्थल उसने देख डाले और वन्दना का मिलना तो अलग, उसके विषय में कोई सूचना भी उसे नहीं मिल सकी और अधिकांश घरों की गृहणियों के मुखों पर प्रच्छन्न विद्रुप भरा संकेत उसने पढ़ा तब उसका धीरज छूट गया। लौटते समय वह पोखरा भी देखती आई, रामजी जहाँ 'घण्डैल' उतरते थे। अन्त में हार-थक कर बहुत देर बाद वह हांफती हुई आई और चादर उतारते हुए, उन्मुख शिवनाथ से उसे कहना ही पड़ा—बहूजी तो नाहीं मिललिन कहीं। सवत्तर घूमि अइली।

आशा का जो ताना-बाना इन कुछ घंटों में शिवनाथ बुनते रहे वह एक झटके से टूट गया। निढाल हो वह फिर चारपाई पर लेट गए। परबतिया उठकर रात के बर्त्तन मांजने नीचे चली गई। किन्तु थोड़ी ही देर में फिर ऊपर आकर बोली—आज खइब का? न होय, हम ही

कुछ बनाय देई !

शिवनाथ की आँखों में इस क्षण आँसू आ गए। पता नहीं वन्दना के चली जाने के कारण या अपनी कदर्य परवशता के कारण। सच ही तो, आज अब तक उनके मुँह में एक दाना अन्न नहीं गया है। बिन्दो रहती थी तो सबेरे-सबेरे ही चाय पिला देती थी, थोड़ी देर बाद जल-पान करा देती थी। इस नियम में कभी व्यतिक्रम नहीं हुआ। उन्हें लगा कि उनके सिर में दर्द हो रहा है। बिन्दो की अनुपस्थिति स्वार्थ के आवरण में ही सही, उन्हें अनुभव होने लगी। बिछावन नहीं बदला गया, कुर्त्ता नहीं पहनाया गया, कोने में रखी सुराही पर का ग्लास अब भी जूठा पड़ा है। उसे हटाने वाला कोई नहीं।

परबतिया—त हम बनाय देईं कुछ? बहूजी जाने कब आवें!

शिवनाथ ने बेबसी से कहा—अरे, क्या-क्या बनावेगी तू? अभी तो चाय भी नहीं मिली। माथे में दर्द होने लगा।

परबतिया—बासन मांज के चाह हम बनाय लियाईला। बारे कुछ देरी लगी।

आज सबेरे से ही उसका हर्ज हो रहा था, और घरों में काम करने नहीं जा सकी। अब इस चाय-पानी के चक्कर में उसे और देरी होगी किन्तु वन्दना के ख्याल से वह यह सब कर रही थी। शिवनाथ को लाचार छोड़ते उससे न बना। जल्दी-जल्दी बासन मांजने लगी और मन ही मन मनाती जाती थी कि राम करें, बहूजी इसी घड़ी आ जायँ। खूब लड़ाई करेगी, पूछो भला—सबेरे-सबेरे चली गईं, न पता न ठिकाना! क्या उसको और कोई काम नहीं है जो तुम्हारी गिरस्ती सम्हाले? महाल भर तो छान मारे हम, जाने कहाँ बिलोप होय गईं। बारह बजा चहता , ई कौनो चाह पियै क बखत हौ?

सावधानी से इधर-उधर देखती कृष्णा ने आंगन में आकर पूछा—तुम्हारी बहूजी कहाँ है पारबती ?

परबतिया ने मुँह उठाकर देखा, कहा—कहीं गइल हइन। पंडित जी उप्पर हउअन।

प्रसन्न हुई कृष्णा। कल की घटना कुछ ऐसी अटपटी हुई, इतने अनपेक्षित रूप में उसे नरेश के साथ चली जाना पड़ा कि उसके दानवी मन को परितोष नहीं हुआ। जाने के समय नरेश और वन्दना के बीच जो कुछ पवित्र आलाप-संलाप हुआ, जो पावन संबंध, नर-नारी के हृदय की निगूढ़ वेदना का जो परिचय, सख्य-संबंध के रूप में अपनी झलक दे गया—वह सब उसको कल्पनातीत लगा था किन्तु वन्दना को हाथ में पाने का प्रलोभन और बम्बई का संसार यहाँ बसाने का लोभ बड़ा था। कल की घटना के बाद वह इतना समझ गई थी, उसके परीक्षित अस्त्र यहाँ भी अव्यर्थ होंगे, केवल प्रयोग में सावधानी बर्तने की ज़रूरत है। आज वह वन्दना से सहानुभूति दिखाने आई थी, अपनी ओर से उसका मन साफ़ कर देना चाहती थी। सिमेंट की बिक्री वाले काम से नरेश के बाहर चले जाने पर वह यही प्रयोजन लेकर आई थी किन्तु परबतिया के मुँह से यह जानकर कि वन्दना कहीं गई है ओर शिवनाथ ऊपर अकेले हैं, उसकी पैशाची प्रवृत्ति उसे उभारने लगी। जाने के समय जो कुछ हुआ, उस नाटक में नमक-मिर्च लगाकर शिवनाथ को सुनाने के लिए इससे अच्छा अवसर क्या होता ?

शिवनाथ चुपचाप पड़े थे। खुली आँखें छत के पार शून्य में जमी थीं। कृष्णा ने कमरे में आती हुई पूछा—क्या सोच रहे हैं शिवनाथ बाबू ?

शिवनाथ ने स्वर पर उधर घूम कर देखा। बोले कुछ नहीं।

कृष्णा अकारण खिलखिला कर हँस दी, वातावरण को सहज बनाने

की भूमिका बाँध रही थी। शिवनाथ को वह हँसी अच्छी नहीं लगी, यह वह समझ गई। वह मुँह फेर कर लेट रहे। फेंका हुआ पांसा पलट गया, समझ कर चतुरा खिलाड़िन की भाँति, बात बदल कर उसने लालटेन की ओर बढ़ते हुए कहा—यह अभी तक जल कैसे रही है?

शिवनाथ ने लालटेन की ओर देखकर भारी गले से कह दिया—परबतिया बुझाना भूल गई होगी।

यह सब काम वन्दना स्वयं करती थी। अपने इस अधिकार क्षेत्र में वह किसी का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं कर सकती थी। यह सब कोई स्त्री को बताता नहीं, कोई उसे सिखाने नहीं जाता, आँख में उंगली डाल-कर नारी-जीवन के यह श्रेय और प्रेय उसे कोई सुझाता नहीं। गृह-स्वामिनी के इन सहज साधारण कर्त्तव्यों की दीक्षा उसे उसी दिन मिली ज़िस दिन नारी-तन लेकर वह धरती पर आई। दैन्य हो, अभाव हो, विपदा हो—मुट्ठी भर अन्न और तन ढंकने को वस्त्र और माथे पर साया, कहीं कुछ न हो—पति और पति के घर की इन्हीं छोटी-छोटी व्यस्तताओं और व्यर्थताओं को लेकर ही भिखारिन भी राजरानी है। अभागी है वह सुहागी जिसके जीवन का पल-पल इस माधुरी से रीता है। व्यर्थ है उस नारी का सुहाग जिसे यह सब कुछ करने का अवसर नहीं मिला। स्वामित्व पा जाना सहज है, स्वामिनी के पद की अधि-कारिणी होना कठिन है—बहुत कठिन। वन्दना ने नारी-हृदय का यह सत्य पहचाना था तभी अपने अधिकारों के लिए लड़ाई करना वह नहीं जानती थी, प्रेम को ज़ोर-ज़बर्दस्ती के बल पर पाने का प्रयास भूल से भी उसने नहीं किया। अपना कर्त्तव्य वह जानती थी, एकमात्र उसी को परम और चरम मान कर चलती थी। कर्त्तव्य करते रहने से अधिकार स्वयमेव मिल जाते हैं, यह झूठ उसके जीवन में सतत सत्य बनकर घटित हुआ यह सही है किन्तु अधिकार न मिलने से कर्त्तव्य भी

अकरणीय हो जायगा, यह वह कैसे मान लेती ? कर्त्तव्य कर्त्तव्य है, अधिकार अधिकार है। अधिकार देने वाले के हाथ में है, कर्त्तव्य अपने हाथ में। दोनों को एक में मिला देने से ही निराशा होती है। सन्तान को जन्म देना और सृष्टि के क्रम को अनवच्छिन्न रखना नारी का कर्त्तव्य है किन्तु वही सन्तान बड़ी होकर उसे माँ का अधिकार न दे, तो? माँ अपना कर्त्तव्य करेगी, सन्तान के लिए फिर भी प्राण देगी। कृष्णा से उत्तर में शिवनाथ झूठ तो कह गए किन्तु इस क्षण, सच ही, उनके मन पर हलकी-सी चोट लगी। परबतिया ने यह सब कब किया है? वन्दना किसी अन्य पर इन सब बातों का बोझ लाद कर निश्चित हो भी सकती थी? घर उसका था, परबतिया का नहीं। व्याह कर आने के बाद, कुछ ही दिनों में, उसने शिवनाथ को भी यह अनुभव करने को बाध्य कर दिया था कि घर उसका है। उन्हें स्वयं कभी-कभी, वन्दना से छिपाकर, सोचने को विवश होना पड़ता कि इस घर में उनका अधिकार किस सीमा पर जाकर समाप्त होता है, कहाँ से बिन्दो का क्षेत्र आरम्भ हो जाता है। भीतर बाहर, सब कुछ तो उसने सम्हाल लिया था। शिवनाथ के पास कितने कुर्ते हैं यह शिवनाथ नहीं, वन्दना जानती थी। किस धोती में कब खोंच लग गई, शिवनाथ को पता नहीं किन्तु बिन्दो न जाने कब सी देती थी। तीस-चालीस रुपयों की बंधी गृहस्थी में कब, कहाँ किसका ऋण कितना चुका दिया गया, कौन-सा अभाव कैसे पूरा हो गया, किस आवश्यकता की पूर्ति कैसे हो गई, दैनन्दिन की माँग उभर कर सम्मुख आने के पूर्व ही कैसे अपना समाधान पा गई, दवा-दरपन, पथ्य-पानी, अतिथि-सत्कार सब कैसे निबट जाते थे, शिवनाथ को कहाँ कुछ मालूम था? वह तो केवल यह जानते थे कि बिन्दो के हाथ में बरकत है। और शायद यही मानकर उनके अकर्मण्य मन ने कभी भूले से भी जानने की चेष्टा नहीं की कि यह सब होता कहाँ से और कैसे

है। विन्दो को कभी थकते किसी ने न देखा, कोई बात भूलते किसी ने नहीं पाया। उसके पास, सब कुछ करते हुए भी, अवकाश ही अवकाश था।

कृष्णा से, इसीलिए, थोड़ा-सा अहेतुक झूठ बोल जाने पर इस क्षण सचमुच का परिताप शिवनाथ को हुआ। लालटेन बुझाकर कृष्णा पास ही बैठ गई, कहा—कल आप एकदम आपे से बाहर हो गए। ऐसा भी कहीं किया जाता है?

चाय मिलने में देरी होने से शिवनाथ का माथा गर्म हो रहा था। निष्क्रियता का क्रोध भीतर ही भीतर उफन रहा था। वन्दना के यों कहीं चली जाने में उनका भी अपना कुछ हाथ हो सकता है, पति का चिरदिन संस्काराभिमुख मन यह सोच भी नहीं पाता था किन्तु वह नहीं है—कहीं चली गई है—यह कटु सत्य शतमुख होकर पल-पल उन्हें विकल कर रहा था। उसके आने पर आज वह न जाने क्या कर बैठें। वह भारी ही बने रहे, कृष्णा के प्रश्न का सत्य-कृष्ण कुछ भी उत्तर न दिया।

कृष्णा को यह चुप्पी खल रही थी, उसने आगे कहा—जब आँख से बिना कुछ देखे आपने इतना बड़ा काण्ड कर डाला तब कहीं सब कुछ देखते तो क्या होता? मैं तो खुद शर्म से गड़ी जाती थी।

अब दाँव ठीक पड़ा। शिवनाथ की सन्देहाग्नि में घी के छींटे पड़े। आग लहकी, भृकुटि बंक हुई। पूछा—क्या मतलब?

कृष्णा ने बात की बतास से आग और लहकाई—देखिए, आपसे तो कुछ कहते डर लगता है। अर्थ का अनर्थ न करने लगें। कल तो देख चुकी हूँ न! दूध का जला छाछ भी फूँक-फूँक कर पीता है। विन्दो को जीजी की तरह मानती हूँ, इसी नाते आपसे भी बात कर लेती हूँ। यों, मुझे क्या लेना-देना है भाई, दुनिया में सब चलता है। पीठ पीछे मेरे क्या होता है मैं देखने नहीं जाती। पर आँख से देखकर तो मक्खी

निगली नहीं जाती !

शिवनाथ ने उफनते क्रोध से कहा—सुनूँ तो आख़िर, क्या हुआ ?

कृष्णा एक बार उठकर बाहर झांक आई, फिर विश्वस्त होकर कि वन्दना सचमुच ही कहीं आसपास नहीं है, बोली—जब हम लोग कल जाने लगे तब की बात है। बिन्दो जीजी नरेश बाबू के पाँव पकड़ कर रोने लगीं और कहने लगीं कि मुझे साथ ले चलो। तुम्हारे सिवा मेरा और है ही कौन नरेश बाबू ? इस जानवर के साथ मैं अब नहीं रह सकती। मुझे ले चलो कहीं दूर। दोनों ओर से मान-मनौवल का नाटक होने लगा। मैं तो पानी-पानी हो गई शिवनाथ बाबू, वहाँ से हट गई।

शिवनाथ का सन्देह सत्य बन रहा था। पूरी शक्ति से उठने की चेष्टा करते हुए उत्तेजना में पूछ उठे—तो वह... वह नरेश उसे ले गया है ? मैं उसका ख़ून पी जाऊँगा।

कृष्णा इस असमर्थ के आवेश पर हँस दी, शिवनाथ को सहारा देकर लिटाते हुए कहा—वह आप कर सकते हैं लेकिन जीजी वहाँ गई नहीं हैं शिवनाथ बाबू ! वहाँ मैं जो हूँ।

शिवनाथ ने उसके मुँह पर दृष्टि गड़ाए हुए पूछा—वह है कहाँ ? तुमने उससे पूछा नहीं कृष्णा, वह बिन्दो को ले कहाँ गया ? मैं कहे देता हूँ, अगर बिन्दो को वह ले गया तो मैं उसे गोली मार दूंगा—छुरा भोंक दूंगा। उसे पुलिस में दे दूंगा।

आवेश के कारण वह काँपने लगे, लुंज-मुंज शरीर और विकृत मुख भयंकर रूप से उद्वेलित हो उठे। अक्षम पुरुष का दयनीय अहं वीभत्स रूप से चीख़ उठा—वह समझता क्या है ? क्या है आखिर वह ? चोर, बदमाश....

कृष्णा कुछ भी हो, हिन्दू स्त्री थी। उसके हृदय में किसी कोने में 'पत्नी' सोई थी, अकारण ही अपने अनुपस्थित पति के इस अपमान

से उसे भी चोट लगी। किन्तु बाजी वह हार चुकी थी, इस स्थिति के लिए उत्तरदायी वह स्वयं थी। तीव्रता से शिवनाथ का प्रतिरोध करने में भी उसका स्वार्थ अपने को निर्बल पाने लगा। फिर भी, बात को मृदु बनाकर बोली—शिवनाथ बाबू, भले-बुरे जैसे भी हैं—नरेश बाबू मेरे पति हैं। आप तो जैसे यह भी भूले जा रहे हैं! मैं इसलिए यहाँ नहीं आई थी।

कृष्णा का स्वर तीखा नहीं था पर उसकी बात का मर्म समझकर पल भर में ही शिवनाथ का दर्प बुझ गया। उन्हें अपनी कदर्यता पर सचमुच की रुलाई आने लगी। आज वह कितने असहाय हैं। आज वह अपने पुरुषत्व के अपमान का प्रतिशोध भी नहीं ले सकते। जिसने उनके मुँह पर अनायास स्याही पोत दी, जिसने उनके मान को, असमर्थ जान, चुनौती दी है उसको अपराध का दण्ड भी वह नहीं दे सकते। कहीं कोई नहीं है जो उस उद्धत, पापी नरेश को खींच लाकर उनके सामने खड़ा कर दे और वह दोनों हाथों से उसका रक्त उलीच कर अंजुलि भर-भर पी जाँय। तभी उन्हें शान्ति मिल सकेगी, तभी उनका प्रतिशोध पूरा होगा।

बुझे कंठ से, हताश शिवनाथ ने कहा—मेरा तो आज कोई नहीं है कृष्णा!

कृष्णा द्रवित हो गई, सान्त्वना के मिस बोली—ऐसा नहीं कहते शिवनाथ बाबू! जिसका कोई नहीं उसका भगवान तो है। वह सब देखता है।

उठकर चादर की छोर से शिवनाथ के आँसू पोंछ दिये, कहा—मर्द होकर रोते हैं? छिः।

शिवनाथ—तभी तो रो रहा हूँ कृष्णा! पुरुष कभी था, इस पर भी मुझे सन्देह हो रहा है।

संकट की घड़ी में शायद इस क्षण अनजाने शिवनाथ के मुँह से कठोर सत्य निकल गया। वन्दना के अनुपस्थिति की आरसी में अपना कुरूप

सत्य शिवनाथ को वीभत्स यथार्थ लगा। उनके मन के उफनते क्रोध को दबाकर इस क्षण यही सत्य उन्हें उत्पीड़ित करने लगा कि वह, सच ही कभी पुरुष नहीं रहे हैं, पुरुषोचित मान-मर्यादा के अधिकारी वह कभी नहीं रहे। पलकाल में उनका पाखंडभरा व्यतीत विराट् प्रश्नचिह्न बन कर उनके सामने आ खड़ा हुआ। उनकी इच्छा हुई कि वह रो-रोकर अपना सम्पूर्ण विगत इस सामने बैठी नारी के आगे पुस्तक के पन्नों की भाँति खोल दें, मन का बोझ शायद कुछ हलका हो, किन्तु एक युग से अभ्यास डाला हुआ झूठ और अहं इस समय फिर उनका मुँह बन्द कर गया। कृष्णा की वास्तविकता वह जानते हैं। नरेश उसके लिए आराध्य के रूप में कभी नहीं रहा। नारी होकर भी नारीतन और मन को उसने सदा पण्यवस्तु मान कर चलना सीखा है फिर भी पति के प्रत्यक्ष अपमान को वह सह नहीं सकी। शिवनाथ को उसने जो कृत्रिम स्वार्थ भरी आत्मीयता दी थी उससे उत्साहित होकर वह नरेश का उद्धत अपमान कर बैठे, कृष्णा ने कितने सहज भाव से उन्हें समझा दिया कि नरेश उसका पति है यह भूलने से नहीं चलेगा। इस एक शब्द का अधिकार पाने के लिए, सच ही, इस क्षण शिवनाथ का मन भी रो उठा।

परबतिया चाय बनाकर ले आई, अलग-अलग दो सुन्दर प्याले, थे, चायदानी और चीनी और दूध के बर्तन। नरेश जिन दिनों यहाँ रहता था, यह सब ले आया था। तिपाई पर सब रख कर बोली—चीनी त हइयै नाहीं हौ। पइसा द त लेत आई!

चाय का सरंजाम देखकर शिवनाथ के अभ्यस्त मन को जो शान्ति मिली थी वह चीनी न होने की बात सुनकर उड़ गई। मुँह बिगाड़ कर बोले—चीनी नहीं है तो मैं क्या करूँ? डेढ़ दिन में तो चाय बनी है, अब डेढ़ बरस में चीनी आएगी।

परबतिया ने कहना चाहा कि यह तेहा हमको दिखा कर क्या होगा,

किन्तु कहा—अब्बै लियाई ला। पइसवा त द।

शिवनाथ तकिए के नीचे और बिछावन पर इधर-उधर ढूंढ़ने लगे। कृष्णा ने पूछा—क्या ढूंढ़ रहे हैं?

शिवनाथ—कल बिन्दो ने दूधवाले का हिसाब दिया था। बचे पैसे शायद मेरे कुर्त्ते की जेब में हैं। वह कुर्त्ता ज़रा उतार देना।

परबतिया के बढ़ने के पहिले ही कृष्णा ने उठकर खूंटी पर से कुर्त्ता उतार कर शिवनाथ को दे दिया। उन्होंने पैसे निकालने के लिए जेब में हाथ डाला तो उसमें कुछ कागज़-जैसा लगा। उसे भी कुतूहल में निकाल लिया। परबतिया के जाने के बाद उसे खोला तो अक्षर वन्दना के थे। वन्दना का लिखा हुआ कुछ? उनकी जेब में? इस समय? कल भी तो दिन भर वह यही कुर्ता पहने हुए थे, तब तो कोई काग़ज़ जेब में नहीं था। वह खिड़की की ओर मुड़कर काग़ज़ देखने लगे।

देखने लगे और आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। एक बार, दो बार, तीन बार जल्दी-जल्दी वह पत्र पढ़ गए और तब वह शंकालु आँखें मुंद गईं और पश्चात्ताप के गर्म-गर्म खारे आँसू ढुलक कर उस अपावन बिछावन को पवित्र करने लगे जिस पर उनकी अपराधी काया पड़ी हुई थी। उन्हीं हाथों में वह पत्र कांपता रहा जो वन्दना के यशःपूत शरीर पर प्रहार के लिए उठे थे। वन्दना चली न गई होती तो यह पत्र भी उसकी अवमानना का ही कारण बनता, उसके चरित्र के प्रति आश्वस्त इससे न होकर पति उसे धोखा ही मानते किन्तु बिन्दो के ऐच्छिक निर्वासन के समय हृदय की सम्पूर्ण सच्चाई से लिख गए इस पत्र ने शिवनाथ के पापी मन को भी श्रद्धास्पद बना दिया। विचित्र है मानव का मन। कब किस घड़ी, किन परिस्थितियों में वह किस बात का क्या अर्थ लगा लेता है, कौन जाने! क्या था इस पत्र के अक्षरों में? उन नपे-तुले वाक्यों में? अपने चली जाने की सफ़ाई ही तो? और सफ़ाई ही क्यों—पति के

प्रति प्रच्छन्न घृणा क्यों नहीं? उसका यह अर्थ क्यों न हो कि बिन्दो ने नरेश के साथ दुरभिसन्धि करके कहीं चली जाने के लिए एक आड़ खड़ी की है? अपना बचाव किया है? नारी के लिए यह मिथ्या, यह कपट, यह छल क्या नया है? ....किन्तु नहीं, चेष्टा करके भी शिवनाथ अन्यथा अर्थ नहीं निकाल सके। उनका सारा आक्रोश, दर्प और अभिमान अपना ही उपहास करने लगा। पराजित अहम् अपने को ही खाने-चुकाने लगा। मान करके चली गयी वन्दना के बिदा-समय के यह कुछ वाक्य केवल अपनी ही कहानी नहीं कहने लगे, शिवनाथ की हीनता को भी उघार कर उन्होंने रख दिया। किताबों से उधार लिया हुआ ज्ञान इस समय कोई काम न आया।

कृष्णा विमूढ़-सी, ठगी-सी केवल देखती रही। उसे इच्छा हुई, कुतूहल हुआ कि जान ले, शिवनाथ के उन कांपते हाथों में वह क्या है जिसने नयनों में बरसात ला दी है, किन्तु साहस नहीं हुआ कि पूछे। शिवनाथ से भय उसे नहीं था, जिस दिन आई उसी दिन सहज ज्ञान से समझ गई कि इस पुरुष में संभ्रम योग्य कहीं कुछ नहीं है। उसके साहस ने तो इस समय शिवनाथ के आँसुओं से हार मानी। करुणा ने उसे विजित किया। परबतिया चीनी लाकर रख गई और चुपचाप चली गई। शिवनाथ खिड़की की ओर मुख किए हुए थे अतः वह देख नहीं सकी। देखती तो डर जाती। वर्षा थम गई थी और ऊमस भर गई थी। बादल बिखरे नहीं थे, इधर-उधर से आकर एकत्र हो रहे थे। किसी क्षण फिर बरखा हो सकती थी। दिन ढलने की ओर था, दो बजने को होंगे। पश्चिमाभिमुख सूर्य की किरणें अब भी आग बरसा रही थीं। कृष्णा की दृष्टि में शिवनाथ के अकारण मौन ने उसे समझा दिया कि आज बात आगे नहीं बढ़ सकेगी और उसे, जैसे हो, जल्दी ही यहाँ से चली जाना चाहिए। मन में कुतूहल उसके भी प्रबल था, वन्दना आखिर यों चली कहाँ

गई? यह वह निश्चित जानती है कि नरेश के पास वह नहीं गई है। यह भी निश्चित है कि उसके चली जाने से कल की ही घटना का संबंध है किन्तु यह सब होते हुए भी स्वयं उसका मन नहीं स्वीकार करता कि वन्दना पति को छोड़ किसी अन्य के साथ कहीं जा सकती है।

थोड़ी देर बीत जाने पर कृष्णा ने ध्यान बंटाने के उद्देश्य से कहा—शिवनाथ बाबू, चाय ठंडी हो रही है।

शिवनाथ ने घूमकर देखा। वह दृष्टि कृष्णा झेल नहीं सकी। पूछा उन्होंने—नरेश कहाँ है?

अभी थोड़ी देर पहले शिवनाथ का निष्फल आवेश वह पति के प्रति देख चुकी थी, साथ ही उन्हें निरपराध होते हुए भी अपमानित होते सुन चुकी थी। यह उससे सहन नहीं हुआ था। अब उस बात की पुनरावृत्ति पाकर कहा—मैं नहीं जानती वह कहाँ हैं। कह तो दिया आपसे कि उनके साथ वन्दना जीजी नहीं गई हैं। फिर, कल जो कुछ हुआ उससे उनका अपमान क्या कम हुआ है? अब उनको लेकर क्या करेंगे?

शिवनाथ की आँखें फिर डबडबा आईं। रुआंसे कण्ठ से बोले—उससे अपने पाप की क्षमा माँगूँगा कृष्णा!

कृष्णा को पांव के नीचे की धरती धँसती-सी लगी। पल भर में यह क्या हो गया? अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। पूछा—क्षमा? किस पाप की क्षमा शिवनाथ बाबू?

अब शिवनाथ के आँसू नहीं रुके। हाथ का पत्र चुपचाप कृष्णा की ओर बढ़ा दिया। जब तक वह उत्सुक कुतूहल में पढ़ती रही, वह पश्चात्ताप के गंगाजल-से पवित्र आँसू ढारते रहे। कृष्णा के पढ़ चुकने पर कहने लगे—तीन वर्षों से अपने को धोखा देता रहा हूँ कृष्णा! बिन्दो को छल के बीच एक दिन इस घर में ले आया था। उस दिन झूठ का नाटक

जो आरम्भ हुआ उसका अन्त देख रही हो?

क्या देख रही है कृष्णा? कब, किस अनतिदूर अतीत में एक दिन कौन-सा छल का अभिनय करके शिवनाथ वन्दना को व्याह कर ले आए, यह सब जानने की न उसे कभी आवश्यकता हुई न उसने जाना। उसकी एकमात्र दृष्टि वन्दना के वर्तमान पर थी। शिवनाथ रुँधे कण्ठ से कहते गए—दीन-हीन, असमर्थ मैं—कहाँ थी मुझमें यह क्षमता कि बिन्दो को पत्नी रूप में ग्रहण कर पाता! माधवी लता ने फिर भी बरगद के सूखे ठूँठ पर अपने मन का निर्माल्य चढ़ा दिया। पढ़ा मैंने बहुत था कृष्णा, मेरे मन का रस भी सूख गया था। झूठ फिर काम आया, उस एकान्त समर्पण को मैंने अपना अधिकार मान लिया। ऐसे ही बीत जाता पर बीच में आ गया नरेश! तन-मन की मेरी अक्षमता ने मुझे सबके प्रति शंकालु बना दिया था, नरेश की सहज-साधारण बातों का मैंने दूसरा ही अर्थ लगाया फिर जाने कहाँ से आ गईं तुम—मेरी रही-सही शान्ति भी तुमने छीन ली!

कृष्णा चकित हुई—मैंने? कहते क्या हैं शिवनाथ बाबू?

शिवनाथ का आक्रोश फिर जागा—सही बात सुन कर आश्चर्य होता है कृष्णा? इतना बड़ा समुद्र है तुम्हारी बम्बई में, वहाँ डूब मरने भर के लिए जल नहीं मिला?

कृष्णा उत्तेजित हो उठी—शिवनाथ बाबू!

शिवनाथ पागल हो रहे थे—चुप रहो कृष्णा! तुम्हें यह क्रोध शोभा नहीं देगा। इस समय पंगु हूँ, उठ-बैठ नहीं सकता। तुम अछूती चली जा सकती हो। भगवान ने स्वयं मुझे अपने किए का दण्ड दिया है। मुझे यही चाहिए....यही चाहिए....भगवान....

वह व्यतिव्यस्त हो उठे। तकिए में मुँह छिपाकर नन्हें, नादान, बच्चे-सा क्रन्दन करने लगे—मुझे यही चाहिए था भगवान!

मेरे अपराधों का यही दण्ड है, यही प्रायश्चित्त है।.... किसी का कोई दोष नहीं है। बिन्दो ... देखो बिन्दो, आज मेरे मुँह पर की झूठ की नक़ाब तार-तार फट गई है। आज मैं दुनिया के सामने दिगंबर खड़ा हूँ। मुझे क्षमा कर दो बिन्दो.... एक बार क्षमा.... लेकिन नहीं, आज भी तो मेरा झूठ मेरे साथ है! मैं समझता हूँ, तुम मुझे क्षमा कर सकती हो... झूठ-झूठ.... नहीं. नहीं.... नहीं....

आवेश में उनका स्वर तीखा हो गया। परबतिया रसोई में से भागी हुई आई। उसे देखते ही वह फिर चिल्ला पड़े—परबतो, तुम्हारी बहूजी को मैंने मार डाला। मार डाला मैंने......

पश्चाताप की उग्रता में चारपाई की पाटी पर उन्होंने माथा पटक दिया, कट जाने से रक्त बह चला। परबतिया ने बढ़कर सम्भाल लिया।

संध्या बढ़कर रात बनने जा रही थी। कृष्णा जाने कब की चली गई थी। परबतिया ने घाव धो-धाकर, अपनी बुद्धि के अनुसार पट्टी बाँध दी थी और खूब गर्म चाय पिलाकर शिवनाथ को सुला दिया था। आज दिन भर घर नहीं जा सकी, न कहीं काम पर जा सकी। इस बीच उसकी माँ आकर एक बार देख गई थी और चेता गई थी कि रात को खिला-पिला कर जरूर-जरूर घर आ जाय। जवान लड़की, अभी व्याह होना है। अकेले घर में पराए मरद के साथ कैसे रहेगी? परबतिया ने कह दिया था कि वह ज़रूर चली आएगी पर माँ के जाने के बाद उसका मन उदास हो गया। यह ठहरे लुंज-मुंज, बहूजी हैं नहीं, ऐसे में रात भर कैसे रहेंगे भगवान? कोई जरूरत ही लग गई तब?

तभी आया रामदीन। परवतिया को जैसे साँस मिली, खिलकर कहा—भले आए। देखौ अपने मैनेजर बाबू की हालत।

कल संध्या से ही रामदीन का मन शिवनाथ की ओर से कटु हो आया था। यदि वन्दना जाते-जाते इतना निहोरा न कर गई होती तो वह

अब कभी न आता। मूरख था, अपढ़ था, दुनिया के ऊँच-नीच से अनजान था तो क्या—शिवनाथ ने एक दिन उसे और उसकी माँ को सहारा दिया था तो क्या हुआ, उसके मन के स्नेह ने स्वीकार कर लिया था कि जो आदमी वन्दना जैसी नारी पर हाथ उठा सकता है वह अच्छा आदमी नहीं होगा। वह कोई और मैनेजर बाबू थे जो उस दिन उसके काम आए थे। आदमी का सच्चा परिचय अपनों के बीच मिलता है। बाहर का आदमी थोड़ी देर के लिए देखता है, मिलता है। वह सही पहचान नहीं हो सकती। परबतिया के संकेत पर तभी, शिवनाथ की ओर देखकर भी उसके मन में करुणा नहीं उपजी। सहज भाव से ही, अनमने, पूछ लिया—क्या हुआ?

परबतिया जितना जानती थी, उसने बता दिया फिर कहा—ऐसे में अकेले छोड़कर कैसे चली जाऊँ, बताओ भला? अच्छा रामू, आज रात क्या तुम यहाँ नहीं रह सकते?

शिवनाथ के कमरे के बाहर परबतिया बैठी बात कर रही थी। रामदीन ने एक बार विश्वस्त हो लिया कि शिवनाथ सुन नहीं रहे हैं, फिर बोला—रह तो सकता हूँ पर रहूँगा नहीं। मन नहीं करता।

आश्चर्य से पूछा परबतिया ने—क्यों?

रामदीन का गला भर आया। स्नेह के अतिरेक में वह यह भी भूल गया कि वन्दना ने उसे अपने सिर की सौगन्ध दिलाई थी। कहा था—रामू, मेरा मरा मुँह देखो जो किसी से कहो कि मैं कहाँ चली गई। तुम समझ लेना कि तुम्हारी बहूजी कभी यहाँ आई नहीं। भूल सकोगे मेरा आना? मान सकोगे कि वन्दना मर गई?

रामदीन के मुँह से केवल इतना ही निकला था—बहूजी—और वह कठिनाई से रुलाई रोक पा रहा था।

वन्दना कहती गई थी—हाँ भैया, यही मान लेना। अपना जी मत

दुखाना। जिसके लिए सब कुछ किया, जब उसका ही विश्वास नहीं पा सकी तब दुनिया के लिए ज़िन्दा रहकर भी क्या करूँगी? मोह नहीं छूटता न, नहीं तो मर कर भी दिखा देती। लेकिन यही भला है कि तुम लोग मुझे मरी मान लो।

भरी ट्रेन छूटने में कुछ मिनटों की देर थी। किसी तरह खिड़की के पास वन्दना को स्थान मिल गया था। रामदीन ने आँसू पोंछते हुए पूछा था—तो अब कभी लौट कर न आएंगी बहूजी? हमेशा के लिए मैनेजर बाबू को छोड़ दिया?

वन्दना भी भीतर से उमड़ती आ रही थी, रामदीन के कन्धे थंपथपाकर कहा था—ऐसी बात नहीं कहते रामू! मैं पति को छोड़ूँगी? कोई स्त्री कभी छोड़ सकी है? स्त्री अपना मान छोड़ती है। अभिमान और अधिकार छोड़ती है। मैं भी सब कुछ उनके उन्हीं चरणों पर चढ़ा आई हूँ जिनकी सेवा का एकमात्र अधिकार मेरा था। अपना सब कुछ लुटाकर भी बदले में मैं कुछ नहीं चाहती थी। चाहती थी केवल विश्वास। वह भी मुझे नहीं मिला। जो वह अपने से हाथ उठाकर नहीं दे सके, उसके लिए झगड़ा करूँ यह मुझे अच्छा नहीं लगा। तभी अपना कारोबार समेट कर चली जा रही हूँ रामू।

रामू ने रोते हुए पूछा था—एक बार मुँह खोल कर सब कुछ मैनेजर बाबू से कह देतीं तो अच्छा न होता बहूजी?

वन्दना फफक कर रो दी थी—किससे कहती रामू? जो सुनना नहीं चाहता, उसे ज़ोर-ज़बर्दस्ती के बल पर कैसे सुनाया जा सकता है? यह सब जाने दो भैया, तुम उनकी खोज-खबर लेते रहना। यही भीख जाते-जाते तुमसे माँगती हूँ। यह याद रखना, वह जैसे हों—जो कुछ करें, तुम्हारी बहूजी के लिए इहकाल और परकाल, दोनों में वही एकमात्र आराध्य हैं। मेरे मन में उनका जो आदर है वही मुझे उनसे दूर हटा रहा है।

ट्रेन चल दी थी और रामदीन रोता हुआ घर लौट आया था। वन्दना ने आँसू पोंछ लिये थे और खिड़की से सिर हटा लिया था।

परबतिया के प्रश्न के उत्तर में रामदीन की आँखों के सामने विदा समय का वन्दना का अश्रु-छलछल मुख फिर उभर आया और मन की कटुता वाणी में उतर आई—तुम तो जानती नहीं परबतो, बहूजी मन का कौन-सा दुख लेकर चली गई हैं। कौड़ी-कौड़ी जोड़कर उन्होंने यह सब माया बटोरी थी। मैनेजर बाबू तो कभी कुछ कर नहीं पाये, इस गिरस्ती को खड़ी किया था बहूजी ने। इस घर की पियासी धरती ने न जाने बहूजी का कितनाआँसू पिया है। तुमने तो जाते समय उनका मुँह देखा नहीं, मुझसे पूछो जिसने देखा है। यह घर छोड़ना क्या उनके लिए आसान था? लगता था जैसे अपनी देह छोड़ कर जा रही हों! तुम रहने को कहती हो, मैं तो फिर कभी इस घर में मुँह दिखाने भी न आता। मैनेजर बाबू ने उनके स.थ जो सलूक किया उससे कोई उनका मुँह न देखता पर बहूजी तो हमारी देवी हैं न! साच्छात अन्नपूरना माई! मुझे सहेज गई थीं—भैया रामू, मैं जानती हूँ कि तुम्हारा मन अपने मैनेजर बाबू की ओर से खट्टा हो गया है। पर मन से न सही, मेरे कहने से ही वहाँ चले जाया करो। वह असहाय हैं, अपने से कुछ कर नहीं सकते। मैं जहाँ रहूँगी, मेरा मन उनके आस-पास मंडराता रहेगा। अगर तुम दया कर मेरा यह भार उठा लो तो मैं निश्चित हो सकूँगी। कर सकोगे मेरा इतना सा काम?—और सच कहता हूँ परबतो, उनके आँसू देखकर मुझे हामी भरनी पड़ी।

अकूल अछोर सागर में बहते-बहते जैसे परबतिया को तिनके का सहारा मिला। एकदम रामदीन के पास सरक आई, पूछा—तुम जानते हो रामू, बहूजी कहाँ गई हैं? कहाँ गई है वह?

रामदीन को वन्दना की सौगन्ध याद आई, उठकर खड़ा हो गया।

बोला—जानता क्यों नहीं? सब जानता हूँ पर बताऊँगा नहीं। जब सब जगह छोड़कर बहूजी मेरे पास गईं तब विश्वास ही लेकर तो गईं? उन्होंने मुझे कसम धराई है कि रामू, किसी से कहना मत कि मैं तुम्हारे पास आई थी।

कमरे में शिवनाथ एक कराह लेकर जाग गए। वहीं से पुकारा—परबतो, बिन्दो आई है क्या?

स्वर की पश्चात्ताप भरी करुणा पर परबतिया डोल गई। उत्तर न देकर रामदीन की ओर देखा जैसे कह रही हो—अब तो बता दो रामू? इनका दण्ड पूरा हो गया—पर कहाँ? रामदीन के मुख पर करुणा की रेखा तक न थी। वही कठोर निर्लेप भाव, वही कुत्साभरी जड़ता, इस खोजभरी, अनुताप भरी पुकार के प्रति वही उदासीनता? शिवनाथ ने फिर पुकारा—परबतो, बिन्दो को यहाँ भेज न! मैं कब से बुला रहा हूँ!

परबतिया ने अन्दर आकर लालटेन जलाते हुए कहा—बहूजी नाहीं अइलिन अबहीं।

शिवनाथ की आशा मर गई। बुझे हुए स्वर से पूछा—तब फिर यह बोल कौन रहा था?

रामदीन अन्दर आकर खड़ा हो गया। उसे देखते ही बाँध फिर टूट गया। हा-हा खाकर शिवनाथ फूट पड़े—रामदीन, तुम्हारी बहूजी चली गईं। अब कभी न आएंगी। उन्हें लौटा लाओ भैया, जहाँ कहीं हों, जैसे हों उन्हें फिर एक बार मेरे पास ले आओ। देखते नहीं हो घर में भूत लोट रहे हैं? चारो ओर से सब मिलकर मेरा गला दबा रहे हैं। मैं मर जाऊँगा, इस घर में मेरा दम घुट जायगा रामू! तुम्हारे पाँवों पड़ता हूँ, उन्हें लौटा लाओ।

रामदीन चुपचाप खड़ा था। शिवनाथ सम्हल कर कहने लगे—लेकिन

नहीं, उन्हें इस कलंकित घर में मत लाओ। इस घर की हवा में मेरी साँसों का ज़हर मिला हुआ है। इस घर की ईंट-ईंट पर मेरे झूठ और अहंकार का रंग चढ़ा है। मेरी छाया छूने से भी उनकी पवित्रता काली हो जायगी।

उनका प्रलाप चलता रहा और परबतिया और रामदीन चुपचाप खड़े रहे। परबतिया का मन कर रहा था कि वह कह दे, रामदीन जानता है कि बहूजी कहाँ गई हैं पर उसे भय था, रामू न बताए तब? बहुत देर तक वह अपने मन में संघर्ष करती रही पर अन्त में उसके मुँह से निकल ही गया—पंडित जी, रामू भैया के मालुम हौ कि बहूजी कहाँ गइल हइन।

रामदीन ने आँखों से आग बरसाई किन्तु शिवनाथ की दशा देखकर वह भी भीतर-ही-भीतर पानी हो रहा था। शिवनाथ को जैसे विश्वास न हो रहा हो, रुँधे गले से पूछा—तुम जानते हो रामदीन? यहाँ आओ, मेरे पास।

रामदीन अविचलित खड़ा था। शिवनाथ गरजे—इधर आओ न! मैं बाघ नहीं हूँ जो खा जाऊँगा!

वही होते तुम तो अच्छा था शिवनाथ! मनुष्य का मुखड़ा पहिनने की साध पालकर तो तुम पशु भी नहीं रह गए। रामदीन सहमता हुआ चारपाई के पास आकर खड़ा हो गया। पता नहीं यह क्या करें! जब बहूजी पर यह हाथ उठा सकते हैं तब मेरी क्या बिसात? शिवनाथ ने उसके दोनों हाथ पकड़ लिए और आँखों से झर-झर जल गिरने लगा। कहा—मेरे पास तो अपना कहने को कुछ नहीं है रामदीन! जनम का भिखमंगा हूँ मैं, मेरे पास एक ही निधि थी—बिन्दो, वह भी मैंने खो दिया। उस सामने की भंडरिया में एक हीरे की कील रखी है, वह तुम ले लो। बिन्दो की भेंट समझ कर अपनी बहू को पहिनाना। पर मेरी कमाई मुझे लौटा दो रामू, बता दो कि बिन्दो कहाँ गई है। जनम-जनम

तक तुम्हारा एहसान मानूँगा। मेरा मरा मुँह देखो अगर....

व्यतिव्यस्त होकर रामदीन ने हाथ छुड़ाते हुए कहा—यही कसम तो बहूजी ने भी धराई थी! मैं कैसे बता दूँ? उनका सराप न लगेगा?

शिवनाथ ने वैसे ही अश्रुविगलित स्वरों में निहोरा किया—बता दो रामू, नहीं तो इसी पाटी पर सिर पटक कर प्राण दे दूँगा। उसका सराप तुम्हें नहीं लगेगा, किसी को नहीं लगता। जब मुझ जैसे राक्षस को उसने श्राप नहीं दिया तो तुम्हें नहीं देगी। बता दो न रामू!

परबतिया ने रामू की करुणा को कुरेदा—हाँ रामू, जब पंडित जी पूछ रहे हैं तब बता दो। देख नहीं रहे हो, कैसे हो रहे हैं?

शिवनाथ ने फिर कहा—एक मरने वाले के मन की पुकार नहीं सुन रहे हो रामू? बता दो न!

धर्मसंकट में पड़कर रामदीन ने उगल दिया—बहूजी कल रात की गाड़ी से बम्बई गई हैं।

बम्बई? बहूजी बम्बई गई?—परबतिया जैसे धौरहरे से गिरी!

मुहूर्त्त मात्र में शिवनाथ की समूची करुणा, समस्त दयनीयता न जाने कहाँ तिरोहित हो गई और मुख की रेखाएँ कठोर हो गईं। आँसू बाधा पाकर लौट गए। रामदीन का उत्तर जैसे उनपर वज्र बन कर घहरा पड़ा और उनकी सुध-बुध भूल गई। बम्बई, जहाँ से नरेश आया था। बम्बई, जहाँ कृष्णा अपना व्यवसाय चलाती थी! बम्बई, जिसका बखान बिन्दो के आगे करते नरेश अघाता नहीं था। कृष्णा ने पूछने पर कहा था, वह नहीं जानती कि नरेश कहाँ है। तो फिर—तो फिर नरेश बिन्दो को बम्बई ले गया? कृष्णा ने बताया था कि बिन्दो नरेश से कहीं ले चलने को कह रही थी। तो क्या अन्त में उस कुलटा ने यह छल किया? यह पत्र... धोखा... शिवनाथ बिछावन पर तिलमिलाने लगे। उनकी वह चेष्टा बड़ी कुरूप लगी। हीरे की कील से लेकर आज तक के वन्दना

के सब व्यवहार उनके सामने अपने वीभत्स अर्थ लेकर फिर उभरने लगे। भूल गए वह पत्र, भूल गए उस पत्र के शब्दों से निःसृत सत्य का अश्रु-मधुर परिचय, मुँह बिगाड़कर विद्रूप भरे स्वर में बोले—हूँ, तो इसीलिए तुम्हें सिर की सौगन्ध उसने दिलाई थी! लेकिन तुमने उसका खून क्यों नहीं कर डाला रामदीन? तुम्हारे देखते हुए वह उस बदमाश के साथ चली कैसे गई? उसे घसीटते हुए यहाँ क्यों नहीं लाए? उस नरेश के बच्चे को जीता क्यों चले जाने दिया? बिन्दो उसके साथ चली गई और तुम मुझे ख़बर देने आए हो?

उत्तेजना में वह बहुत कुछ कह गए। रामदीन विमूढ़ सा देखता रहा। शान्त होने पर कहा—बहूजी किसी के साथ नहीं गईं मैनेजर बाबू! वह अकेले गई हैं। मैंने ही तो उन्हें गाड़ी पर चढ़ाया था। आपने उस हीरे को पहचाना नहीं मैनेजर बाबू! कभी आपके सामने मैंने मुँह नहीं खोला पर आज कहता हूँ, वह देवी इस घर में सोहती नहीं थी। उनका मोल आप नहीं लगा सकते थे। बताऊँ आपको, बहूजी ने क्या सब कहा था?

बड़ी रात गए तक रामदीन वन्दना की एक-एक बात सुनाता रहा। उनकी बीमारी के दिनों से लेकर विदा के दिन तक की ऐसी बहुत-सी छोटी-छोटी बातें, जो शिवनाथ के सामने कभी नहीं आईं। त्याग और संयम, सेवा और निष्ठा, प्रेम और आदर की वह तुच्छ से तुच्छ, हीन से हीन घटनाएँ जो शिवनाथ के लिए प्रच्छन्न थीं किन्तु जिनमें नारी-जीवन के उत्सर्ग का, मौन समर्पण का सम्पूर्ण इतिहास बोल रहा था। नैना की भेंट, बिन्दो का अस्वीकार, नैना का यही दुःख लेकर पलायन, कृष्णा का षड्यंत्र, नरेश का पवित्र स्नेह, बिन्दो का स्वयं अपना खाना-पीना चलाने के लिए सुहाग की नथ बेच डालना, दिलकश का प्रसंग, रामदीन के यहाँ जाना और फिर मान-अपमान समेट कर निरुद्देश्य, निरुपाय, सर्वथा अकेली बम्बई के लिए प्रस्थान, शिवनाथ के लिए बिदा के समय की मंगल-

कामना, रामदीन को सौगंध—सब कुछ विस्मयाभिभूत शिवनाथ सुनते रहे और एक-एक अक्षर पीकर अपने मन-प्राण पवित्र करते रहे। उनके उस समय के आँसुओं का मोल कौन लगाता?

काम से रात देर में लौटने पर कृष्णा से सुनकर कि वन्दना कहीं चली गई है, जब सबेरे नरेश शिवनाथ के यहाँ पहुँचा तब वह निरुद्वेग सो रहे थे। छाती पर से एक बोझ उतर गया था।

रामदीन ने नीचे चाय बनाते हुए कहा—अब उठते ही होंगे। आपको पूछ रहे थे।

●

चौदह

अपनी मौज में

पगला गाये जा रहा था—

मरनो भलो बिदेस में जहाँ न अपनो कोय
माटी खाइँ जनावरा महा महोच्छव होय।

युवती ने दोनों हाथों की हथेलियाँ अपनी आँखों के सामने लाकर फटी दृष्टि से देखा, फिर पुकारा—बाबा, यह देखो, मेरे हाथों से ख़ून चू रहा है। देखते नहीं हो?

खंजरी की खनक थम गई। पगले ने पास पड़ी लाठी उठाई, कहा—फिर वही बात? चल, उठ गई है तो दूध पी ले।

पगले के हाथ से दूध लेकर युवती ने पी लिया और फिर सहमी सी, आँखें मूँद लीं। अपने स्थान पर आकर पगले ने फिर खंजरी सम्हाली—मरनो भलो बिदेस में.....

युवती ने आँखें खोलकर फिर टोंका—बाबा!

इस बार झनककर पगले ने खंजरी पटक दी, युवती के पास ही आकर बैठ गया। बोला—ले, अब तेरी ही बात सुनूँगा। बाबा की बच्ची! कहती कुछ नहीं, बस बाबा-बाबा लगाये है! अब बोल न क्या कहती है!

युवती डरी-सी चुप रही। काले-कुरूप अनगढ़ पगले ने फिर डांटा—बोल न!

युवती में जाने कहाँ का साहस भर आया, पूछा,—तुम गा रहे थे बाबा, बिदेस में मरना भला होता है। होता है न?

हाँ बेटी—कहा पगले ने।

युवती—तो फिर मुझे क्यों नहीं मरने दिया बाबा? आदमी के काम तो आ नहीं सकी, जानवर ही कुछ घड़ी उत्सव मना लेते। इस देह से किसी का तो भला होता!

पगले उदासी की आँखें गीली हो आईं। कुछ बूँदें सुधि का भार लेकर धरती पर ढुलक पड़ीं। वह शून्य में दृष्टि गड़ाए बैठा रहा। युवती कुहनियों के सहारे टिककर, अपनी व्यथा भूल, दिये के क्षीण प्रकाश में वह व्यथा-क्लांत मुख देखकर पूछ उठी—तुम रो रहे हो बाबा?

नहीं तो, रोऊँगा क्यों बेटी? दो दिनों में कभी मुझे रोते देखा है?—पगले ने तलहथी से आँसू पोंछते हुए उत्तर दिया।

कुछ क्षण शांति रही। युवती ने उठकर कष्ट से बैठते हुए कहा—मन नहीं मानता बाबा कि तुम पागल हो। जो ऐसी अच्छी बातें करता है, जिसके मन में इतनी दया-ममता है वह पागल नहीं हो सकता।

पगला अब भी कुछ सोचता चुप रहा। युवती ने हठ की—बताओ न बाबा, मुझे क्यों नहीं मरने दिया? मैं तो तुम्हारे लिए बिल्कुल अनजान थी, क्यों मुझे बचाने गये?

पगले ने दृष्टि गड़ाकर युवती की ओर देखा, झुँझलाकर कहा—क्यों यह सब जानना चाहती है लड़की? चुपचाप सोजा। बुखार बढ़ जायगा।

होने दो बुखार, आज मैं नहीं सोऊँगी। मेरे मर जाने से दुनिया का कौन-सा काम रुक जाता? मैं तो किसी के काम नहीं आ सकी, जिसके

सम्पर्क में आई वह मुझे लेकर दुःखी हुआ। एक दिन अपने गर्व में भाग्य को चुनौती दे बैठी थी, आज दर-दर की ठोकरें खा रही हूँ। मैं तो मरना नहीं चाहती थी। मरण की कामना तो किसी दिन मैंने नहीं की। अगर मरना चाहती तो आज तुम्हारे सामने न बैठी होती। तिल-तिलकर मर रही थी, ज़िन्दगी मुझे चिढ़ा रही थी तभी उसे धोखा देकर जीने के लिए यहाँ भाग आई थी। सोचा था, दुनिया की सब राहें मरण की घाटी से होकर नहीं जातीं, मेरे लिये भी इतने बड़े संसार में सिर छिपाने को कहीं स्थान मिल जायेगा। लेकिन कहाँ हुआ? अपना सर्वस्व देती तो मुझे तन ढांकने को वस्त्र और माथे पर साया की कमी न होती, ज़िन्दा रहती मैं—लेकिन बाबा, जीने का यह मोल बहुत मँहगा था। तभी मरण आ गया हाथ पसारे, लेकिन तुमने नहीं जाने दिया! क्यों रोका बाबा, बताओ न! क्यों मुझे नहीं मरने दिया?—युवती रुआंसी-सी मचल गई।

पगले ने युवती के सिर पर हाथ फेरते हुए रुक-रुक कर कहा—सुन्दरता कभी नहीं मरती, मरती है कुरूपता।

चकित-सी युवती ने पूछा—क्या कहा बाबा?

पगले ने वैसे ही दृढ़ स्वरों में दुहराया—सुन्दरता को नहीं मरना चाहिए। तू मर जाती तो तेरे सौन्दर्य का परिचय जगत को कैसे मिलता?

वन्दना कांपकर अलग हट आई। इस पगले ने भी उसके रूप पर रीझकर ही उसे शरण दी है? सेठ कालूलाल के यहाँ की अपमानजनक घटना के बाद वह बम्बई में अपने को एकदम असहाय समझने लगी थी, मनुष्य पर से उसका विश्वास हट गया। पठान दरबान से किसी तरह छूट कर वह भागी थी, उसे इस तरह अकारण भागती देखकर सड़क पर के मरहठे सिपाही को संदेह हुआ था। हाथ की बीड़ी फेंककर उसने चिल्ला कर रोका, वन्दना के पांव मन-मन भर के हो गये। सिपाही ने पास आकर देखा, स्त्री सुन्दरी है। चिरदिन अभ्यस्त पुलिस की दृष्टि ने यह भी अनु-

मान लगा लिया, अपराधिनी नहीं है किन्तु डर गयी है। पास आकर डांटकर पूछा—कौन है? कहाँ जायेगी?

थोड़ी दूर पर लैम्पपोस्ट से टिककर बुढ़िया चम्पाकली हाथ फैलाये बैठी थी। इस ओर का बच्चा-बच्चा उससे परिचित है। लगभग बीस वर्ष पहले लोगों ने देखा था, एक तरुणी इसी लैम्पपोस्ट से सटी बैठी हाथ फैलाए है। तब से इस क्रम में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ, जाड़ा-गर्मी-बरसात कुछ भी हो, वह हाथ उसी तरह फैला देखने के लोग अभ्यस्त हो गये हैं। बच्चे बढ़कर जवान हुए, जवान बूढ़े पर वह हाथ फैला रहा—फैला रहा। मुँह खोलकर कुछ कहती नहीं, कहाँ से आई और कौन है यह कोई नहीं जानता किन्तु उस राजपथ की वह अनिवार्य अंग बन गई है। वन्दना को सहारा मिला, सोचने-समझने का अवकाश नहीं था, दौड़ती हुई आकर चम्पाकली से लिपट गई। चम्पाकली ने लगभग वैसे ही सिपाही को देखा फिर डरी हुई वन्दना को निहार कर दूसरे ही क्षण हँसकर कहा—क्या है घोरपड़े? बच्ची को क्यों डरवा दिया?

सिपाही ने मूछें ऐंठकर पूछा—यह है कौन? इस तरह भाग क्यों रही थी?

चम्पाकली ने न जाने क्या सोचकर वन्दना को पास खींच लिया, बोली—तुम्हें देखकर तो भूत भी भाग जाय, यह तो बच्ची है। पह-चानता नहीं, मेरी बिटिया है। गाँव से आई है।

सिपाही घोरपड़े का उत्साह बुझ गया। वह मूँछें छोड़ सिर खुजलाने लगा। बुढ़िया ने फिर कहा—आज हमी मिले हाथ साफ़ करने को? जा अपना काम कर।

घोरपड़े हताश-सा अपनी राह गया। तभी पगला उधर से गाता निकला। समूची बम्बई उसकी अपनी थी, दिशा-काल का विधान उसके लिए नहीं था। चम्पाकली ने पुकार कर कहा—गंगादास!

पगला रुक गया। बुढ़िया ने पूछा—बेटी लोगे?

'बेटी' सुनकर पगले की आँखों में अनजान चमक आई। उसने दृष्टि गड़ाकर वन्दना को देखा। चम्पाकली और उसमें जैसे वर्गगत प्रच्छन्न संधि हो, बिना कुछ पूछे-जांचे कठोर स्वर में कहा—ए लड़की, चल मेरे साथ। उठ।

स्वर की कठोरता पर वन्दना एक बार डर कर उठी फिर वृद्धा से लिपट गई। अजनबी पागल पुरुष के हाथ पड़ने से अच्छा है, वह यहीं रहे। उसके हृदय की बढ़ी हुई धड़कन और भी तीव्र हो गयी। चम्पाकली के बाल रूई जैसे श्वेत हो गये थे, युवती का भय वह समझ सकती थी। उसके सिर पर हाथ फेरती हुई बोली—बिरानी बम्बई में आदमी पर विश्वास करके नहीं चलेगी तो रहेगी कैसे बेटी? तू तो यहाँ नई आई लगती है, तेरे लिए जैसी मैं वैसा यह गंगादास। लगता है तू आदमी से डर गयी है। पर तुझे आदमी के हाथ नहीं सौंप रही हूँ, देवता के साथ भेज रही हूँ। आँख मूँद कर इनके साथ चली जा।

वन्दना ने विवशता में भर कर कहा—कैसे चली जाऊँ? रहूँगी कैसे? मैं तो जानती नहीं इनको।

चम्पाकली—मैं तो जानती हूँ। तुझे कोई सहारा चाहिए कि नहीं? मैं भी औरत हूँ और उस पर बूढ़ी हुई। हीरा की परख तू नहीं कर सकती, मैं कर सकती हूँ। सोचती होगी, यह पराया अनजान मरद और तू पराई औरत साथ कैसे रहेगी। यही न? छोड़ यह सब पागलपन, मैंने बहुत दुनिया देखी है। यह साथ न रह पाने की मजबूरी ही औरत को मार डालती है। पर यह सब तू नहीं समझेगी। क्या है, कौन है, क्यों भागी थी, मैं कुछ नहीं जानती और जानना भी नहीं चाहती। मुझे लगा कि तू बचना चाहती है और मैंने बचा दिया। अब तू इनके साथ नहीं जाना चाहती तो तेरी मर्जी। इतनी बड़ी बम्बई खुली पड़ी है।....

इतनी बड़ी बम्बई में उसके लिए कहीं स्थान नहीं है, यह वन्दना

जानती थी। सब जैसे भूखे भेड़िये, उसके शरीर के ग्राहक। सेठ कालूलाल के यहाँ जाने के पहले उसने एक घर में, गृहस्वामिनी के आगे आंचल फैलाया था, गृहस्वामिनी ने दया करके रसोई बनाने और ऊपर के काम करने के लिए रख लिया। रात को उनके पति के कमरे में दूध लेकर गई तो वह प्रणय-निवेदन कर बैठे। वन्दना भागी और रातभर भूखी-प्यासी एक पार्क के कोने में पड़ी रही। उसके बाद मिले सेठ कालूलाल—वहाँ से भी अपनी लाज बचाकर उसे भागना पड़ा। बनारस से बम्बई तक की यात्रा में उसे जो अनुभव हुए, लज्जा के कारण वह किसी से कह नहीं सकती। फिर वह सिपाही—कहाँ जायगी वह, कैसे रहेगी अकेली चारो ओर तो यम के दूत हैं, कैसे अपनी जान बचायेगी? कबतक अपनी रक्षा करेगी?

पगले के पीछे-पीछे चलती हुई वन्दना ने कुछ दूर पर सागर लहराता देखा, जैसे उसे मन्ज़िल मिल गयी। खिड़की में बैठने पर फूलों का गुच्छा दिखानेवाले लड़के से लेकर इस मरहठे सिपाही तक का तीन वर्षों की अवधि का उसका अपमानभरा इतिहास उसे उन्मथित करने लगा। वह लड़का, शिवनाथ, रेल के लोलुप सहयात्री, वह टिकट चेकर, कृष्णा, वह गृहस्वामी, कालूलाल, यह सिपाही—और वह पगला! अब आगे क्या होगा भगवान! ... नहीं अब कुछ नहीं होगा। मरना न चाहते हुए भी आज वह मरेगी! सब कुछ का अन्त कर देगी। भावोन्मथित वह दौड़ी, दौड़ी सागरतट की ओर। दौड़ी और पागल पीछे दौड़ा।

आँख खुलने पर वह पगले के पास थी। कालूलाल के सिर पर उसने जो बोतल खींचकर मारी थी, उससे उसका सिर फट गया था। रक्त की धारा बह चली थी। मूर्छा से उठने पर, विगत दो दिनों से वह सोच रही है, उसने कालूलाल की हत्या कर दी और उसके हाथों में खून सना है। दो दिनों से पगला उसकी खोज-सम्हाल कर रहा है। पल-पल जो

वात्सल्य की अनुभूति उसने पाई है वह उसे मन ही मन पगले के लिए कृतज्ञ करती गयी है। अपना विश्वास वह उसे देती गई है।......और अब वह पागल भी कह रहा है—सुन्दरता को नहीं मरना चाहिए।

अब वह कहाँ जाय?

वन्दना जिस तरह सहसा ही सहम कर अलग हट गई और इतनी देर मौन रही, उससे पगले ने न जाने क्या सोचा। बात का क्रम जारी रखते हुए कहा—आज तूने मेरे घावों को कुरेद दिया रे! बूढ़ी चम्पाकली मेरी बिथा जानती है, और इस ओर किसी को पगले गंगादास के बारे में कुछ नहीं मालूम। कैसे वह अपनी बेटी खोकर पागल बना घूम रहा है, यह कोई नहीं जानता। आज होती तो तेरे ही बराबर होती वह।

वन्दना को अपने ऊपर ग्लानि उपजी—क्यों उसने इस सन्तप्त पर अविश्वास किया। वह फिर थोड़ा पास सरक आई, उत्सुक प्रश्न किया—कहाँ है बाबा, तुम्हारी बेटी? कहाँ चली गई?

पगले ने कोठरी के मद्धिम प्रकाश में आँखें पोंछ लीं, भर्राये कण्ठ से बोला—यही तो नहीं जानता बेटी कि मेरी बिटिया मन का दरद लेकर कहाँ चली गई! यह बम्बई उसे लील गई शायद। आज कई बरस हो गये, इस महानगरी की इंच-इंच ज़मीन को पागल की तरह कई बार देख गया हूँ, पर उसे न मिलना था, न मिली। ट्रेन से कटकर मर गई समुद्र में डूब गई, हवा में उड़ गई—कुछ भी तो पता नहीं चला बेटी!

रात आधी से अधिक बीत चुकी है। दूर पर सागर गरज रहा है। स्तब्ध नीरव रात्रि में वह गरज और भी गम्भीर लग रही है। निर्जनता की शान्ति को कभी-कभी स्टूडियो से लौटनेवाली इक्का-दुक्का मोटर भंग करती हुई निकल जाती है। हार्न न बजने पर भी पहियों की सरसराहट साफ़ सुन पड़ जाती है। दूर किसी कोठी का अल्सेशियन कुत्ता रह-रह कर भूँक उठता है। सड़क उस पार ईरानी रेस्त्रां अभी खुला है, स्टूडियो

के कुली और दरबान चाय पी रहे हैं। बीच-बीच में भयंकर रूप से सब हँस पड़ते हैं। सड़क से थोड़ा नीचे उतर कर वृक्षों के झुरमुट के बीच पगले की कोठरी में जहाँ चटाई पर वन्दना जलता तन-मन लिये बैठी है वहाँ से सामने की कोठी का पहली मंज़िल का वह फ़्लैट दिख रहा है। श्रृंगारदान के सामने खड़ी हो एक युवती इस रात के स मय भी श्रृंगार कर रही है। बल्कि शायद श्रृंगार उतार रही है—कहीं से अभी घूम कर आए हैं यह लोग। पुरुष जो है वह पलंग पर अर्द्ध-शायित-सा पड़ा हुआ है, स्त्री वस्त्र बदल रही है। वन्दना से देखा न गया, उधर से दृष्टि हटा कर पूछा—बाबा, इस ओर चोरी नहीं होती क्या?

पगला समझा नहीं, कहा—होती क्यों नहीं। क्यों?

वन्दना—यह किवाड़ क्यों नहीं बन्द करते? कोठरी दो दिनों से रातभर खुली रहती है।

पगले ने हँसकर उत्तर दिया—अरे, मेरे पास है ही क्या जो चोर ले जायेगा? फिर यहाँ तू जो है! बन्द करने से लोग कुछ समझें, तो? दुनिया बड़ी गन्दी है बेटी।

यह ठीक पागल जैसी बात नहीं है। वन्दना श्रद्धा से भर उठी। थोड़ी देर बाद उसने कहा—मैं भी तो तुम्हारी बेटी हूँ बाबा। तुम्हारी एक बेटी खो गयी तो क्या हुआ, दूसरी मिल गयी। लेकिन नहीं, बाप का हृदय इस धोखे से भुलाया नहीं जा सकता। मैं बेटी की तरह हो सकती हूँ, बेटी नहीं हो सकती। अच्छा बाबा, मुझे बताओगे नहीं कि तुम्हारी बेटी कहाँ गई? क्यों चली गयी?

पगले की आँखें भर आईं, रुक-रुक कर कहने लगा—मेरी बेटी बड़े लाड़-प्यार में पली थी। हमारी अकेली सन्तान थी, तभी माँ-बाप का समूचा प्यार उसे मिला था। एक दिन था बेटी, जब हमारे पास पैसा था। हमने खुले हाथों अपनी बेटी पर, बेटी क्यों—सोनचिरैया थी वह,

धन लुटाया, लड़के की तरह उसे पाल-पोस कर, बड़ी किया। उसकी मां तो उसे सोनचिरैया पुकारती भी थी पर मैं अपने को धोखा नहीं दे सका बेटी, मैंने उसका नाम रक्खा था रजनी। हाँ, वह रजनी की तरह, रात की तरह काली थी। इतने पर भी संतोष हो जाता पर भगवान ने उसका नख-शिख भी सुन्दर नहीं बनाया। वह कुरूप थी। रात को सबके सो जाने पर मैं बैठा उसे निहारता रहता—यही चिन्ता मुझे खाये जाती कि इसका विवाह कैसे होगा। बाप का दिल था न, स्नेह के साथ विवेक भी था। उसकी माँ मगन थी, सोचती कि पैसा सब अवगुण ढक देगा। अन्त में एक दिन जब विवाह की हाट में उसका मोल लगाने चला तब मेरी आँखें खुलीं। लोग गुण नहीं देखते थे, सुन्दरता चाहते थे। कोई बात करने को राजी न होता। मैं दिन-दिन भर मारा-मारा घूमता, रात को निराश होकर लौटकर उसकी माँ को असफलता का हाल बताता। बेटी मेरी सुनती और उसकी छाती पर साँप लोट जाता। एक दिन, दो दिन करते-करते दो-तीन वर्ष बीत गये और काली कुरूपा रजनी का कुंवारपन मैं नहीं उतार सका। इस बीच उसकी कई सहेलियाँ व्याह कर ससुराल गयीं और बच्चों की माँ बन गयीं। बेटी मेरी......मन ही मन ऐंठकर रह जाती। कई बार वरपक्ष के लोग उसे देखने आये—रजनी को गुड़िया की तरह उसकी माँ ने सजाया-संवारा, और देखकर वे लोग गये तो एकदम मौन साध लिया। एक-दो के यहाँ से तो साफ़ लिखकर आ गया कि लड़की कुरूप है—व्याह नहीं हो सकता। बेटी, माँ के दिल की पहचान तुझे है? समझ सकती है कि कुंवारी हिन्दू लड़की माँ-बाप के लिए हमारे समाज में कितना बड़ा बोझ होती है? अपने ही लिए वह कितना भार बन जाती है? रजनी की माँ कई बरस प्रतीक्षा करके एक दिन यही लालसा लिए मर गयी कि बेटी के हाथ पीले नहीं कर सकी। रजनी उसके शव पर पड़ी बिलखती रही—क्यों मुझे जन्म दिया माँ? मुझे

काली-कलूटी, कुरूपा को जनम दिये बिना तुम्हारी कोख का कौन-सा अकल्याण था? जनमते ही गला क्यों नहीं घोंट दिया मेरा?—माँ को खोकर रजनी और भी अकेली, और भी बेसहारा हो गयी। पास-पड़ोस के लोग सूने में उसकी हँसी उड़ाते, कोई-कोई मुँह पर भी उसके कुरूप होने का संकेत कर देता। लड़के मुँह चिढ़ाते और वह अब भागकर माँ के आँचल में भी नहीं छिप सकती। वह छाया भी उस पर से हट गयी। मुझसे कुछ कहने का साहस वह कैसे करती, चुप-चाप देखती रहती थी कि मैं स्वयं इसी चिन्ता में घुल रहा हूँ—घुलता जा रहा हूँ। आखिर एक दिन लगा कि भगवान ने मेरी बिनती सुन ली। हमारे गाँव का, गाँव का क्यों कहो, शहर का, एक आदमी इसी बम्बई में रहकर दूध का रोज़गार करता था, उसके भी एक ही लड़का था। रोज़गार करते-करते हाथ में चार पैसा हो गया था। दिमाग भी आसमान पर चढ़ गया था। बम्बई से घर गया तो मैंने पकड़ा, बहुत चिरौरी,—बिनती की और अन्त में मेरी सारी जमा-जथा दहेज में लेकर वह अपने लड़के से रजनी का विवाह रचाने को तैयार हो गया। मैंने शांति की साँस ली—सब कुछ देकर भी अगर बेटी को सुख पहुँचा सकूँ! मन ही मन उसकी माँ की याद कर व्याह के दिन बहुत रोया—कहीं आज वह होती! लेकिन बेटी मेरी ससुराल में थोड़े ही दिनों सुख से रह सकी। बम्बई की हवा उसके पति को लग रही थी। हाथ में पैसा था, वह इधर-उधर सुन्दर औरतों पर उड़ाने लगा। रजनी कुढ़-कुढ़कर रह जाती। इन्हीं दिनों उसके ससुर भी हैजा में चल बसे। कपूत पूत को खुल कर खेलने की छूट मिल गयी। अब वह रजनी पर हाथ भी उठाने लगा। कहाँ तक सहती वह, हारकर मुझे पत्र लिखा। मैं जिस दिन पहुँचा उसी दिन रजनी घर छोड़कर चली गयी थी। इधर-उधर से मालूम हुआ कि पिछली रात उसके पति कहीं से एक सुन्दर स्त्री घर में ले आये थे। नशे में धुत, रजनी

को बुलाकर उसके पांव दबाने को कहा। रजनी के सहने की सीमा थी, उसके अस्वीकार करने पर औरत ने और पति ने मिलकर उसे बहुत मारा। दूसरे दिन, मौक़ा देखकर वह घर से निकल भागी—किसी ने फिर उसे नहीं देखा। जाने के समय मेरी बच्ची गर्भवती थी बेटी! तब से उसे पागल बनकर ढूँढ़ रहा हूँ।

धीरे-धीरे रुक-रुक कर पगला गंगादास बहुत देर तक व्यथा की कथा सुनाता रहा और वन्दना सुनती रही। समय कितना बीत गया है, उस अन्धकारप्राय कोठरी में इसका आभास किसी को न हुआ। काल भी जैसे उस वेदना-सिन्धु में डूब गया हो। जब बहुत देर हो गयी और वन्दना नहीं बोली तब गंगादास ने अपने को प्रकृतिस्थ करते हुए उसकी ओर देखा, दिये की अवशेषप्राय ज्योति वन्दना के निसर्ग-सुन्दर मुख पर छाया-प्रकाश की आँखमिचौनी खेल रही थी और मुँदी आँखों से आँसू ढुलक रहे थे। कुहनियों के बल टिकी हुई, दोनों हथेलियों में मुख टिकाये वन्दना इस समय दूर, दूर कहीं किसी बियाबान जंगल में भटक रही थी। राह उसकी खो गयी थी। कहाँ जाय, क्या करे? .... कितनी व्यथा है भगवान तुम्हारे बिरचे इस जगत में? वह अकेली नहीं है, सबके मन में कहीं कसक है, सबका तन सुलग रहा है।

उसे अपना ज्वर बढ़ता-सा लगा। अंग-अंग टूट रहा था। पेट में कहीं दर्द फिर कसक उठा। सह नहीं सकी, चीख उठी—बाबा!

पगले ने घबराकर माथे पर हाथ रखा, देखा कि देह आग-सी दहक रही है। व्याकुल होकर बोला—क्यों यह सब सुना बेटी?

पेट को दोनों हाथों से दबाती हुई वन्दना ने कष्ट से कहा—मर जाऊँगी बाबा, बहुत दर्द हो रहा है।

गंगादास पागल-सा बाहर भागा। वन्दना की आँखें फटी-सी हो

गई। दर्द और ज्वर में वह प्रलाप करने लगी—मैंने.... मैंने वह हीरे की कील.... माँगी नहीं थी.... नहीं चाहिए मुझे.... उनसे कहे बिना नहीं लूँगी.... पाप होगा.... क्या होता है पाप.... तुम्हारा दावा ही तो सबसे बड़ा है नरेश...... मरने के समय किसी की आँखों का...... एक बूंद जल...... मेरे भाग्य में नहीं है।

शरीर उसका ऐंठने लगा, मुखाकृति वीभत्स-सी होने लगी और वहीं धरती पर उसकी काया जीवनहीना मीन की भाँति तड़पने लगी। वह संज्ञाहीन हो गयी।

बाहर किसी ने पुकारा—गंगादास जी!

उत्तर नहीं मिला। आगन्तुक ने खुले द्वार से भीतर झांका, फिर आकुल कंठ से पुकारा—गंगादास जी!

कोई उत्तर नहीं मिला। आगन्तुक असंकोच दो पग अन्दर बढ़ आया। दिया अन्तिम हिचकी ले रहा था। पूर्वाकाश में.... उषा के रक्त-रथ का आगमन हो चुका है, डालों पर पंछी चहचहाकर सूचना दे रहे हैं। खुले द्वार से आगन्तुक की आड़ हटते ही एक अलक्तक रश्मि दबे पांव भीतर आई। नरेश ने देखा—वन्दना की अचेत काया पृथ्वी पर पड़ी हुई है। भावाभिभूत वह एकदम पाँव के पास बैठ गया और उन निश्चल पांवों की रज माथे से लगाता हुआ रोने लगा— भाभी.... भाभी! तुम यहाँ? तुम यहाँ हो भाभी? नरेश के जीवित रहते....

डाक्टर शितोले के साथ गंगादास उतावली से अन्दर आया। अजनबी को देखकर एक क्षण वह ठिठका फिर प्रश्न को रहने देकर डाक्टर से कहा—देखिए डाक्टर साहब, मेरी बेटी को क्या हो गया!

"बेटी"—नरेश ने विस्मय से गंगादास को देखा—उसके विचित्र वेष को देखा। वह पागल है?

डाक्टर ने अचेत वन्दना की अच्छी तरह परीक्षा की और उठ खड़े

हुए और पूछा—इनके पेट में कभी गहरी चोट लगी थी क्या?

पगले ने असहाय भाव से मूर्छित युवती को देखा, उत्तर नहीं दे सका। नरेश ने दृढ़ स्वरों में कहा—हाँ, लगी थी डाक्टर साहब। कुछ दिनों पहले......

डाक्टर—हाँ, तिल्ली फट गई है। उसी से यह ज्वर है और पेट में दर्द है। दवा देता हूँ पर सब कुछ भगवान के हाथ में है। उस पर भरोसा रखिये। मन पर भी इनके गहरा आघात लगा है शायद।

गंगादास बच्चों की तरह फूट-फूटकर रो उठा—डाक्टर, एक बेटी खो चुका हूँ। अब इसको बचा लो डाक्टर। मेरे पास तो कुछ है नहीं, भीख माँगकर जी रहा हूँ। पर तुम्हें बहुत मिलेगा डाक्टर, दुनिया में बहुत से लोग देंगे। इस पगले पर दया करके मेरी भिखमंगिन बेटी के प्राण बचा लो।

गंगादास की अकपट करुणा ने नरेश को भी रुला दिया। उसने उठकर कहा—बाबा, यह मेरी भाभी हैं। मेरा सर्वस्व लेकर भी यदि इनको प्राण दे सको डाक्टर, तो वही करो। नरेश भिखमंगा नहीं है।

इन्जेक्शन लगाने की तैयारी करते हुए डाक्टर ने कहा था—डाक्टर तो भगवान नहीं है! प्राण तो वही दे सकता है।

नरेश से वन्दना का विगत इतिहास सुनकर गंगादास विश्वस्त हो चुका है। उसे रजनी की याद आई, उसकी कुरूपता ने पति को अत्याचार करने को उकसाया था। किन्तु वन्दना का सौन्दर्य उसका काल बन गया। भगवान, क्या नारी को किसी करवट चैन से न बैठने दोगे? वह कुरूपा हो तब भी उसका दोष है, सुन्दरी हो तब भी वह अपराधिनी है। एक मृत्यु ही है जिसकी गोद में वह स्वस्ति की साँस ले सकती है, और उसे कहीं ठौर नहीं? सहने के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर सकती? संशय, संदेह और शंका ही उसके आलंबन हैं, चुपचाप मुँह बन्द किए

मार खाकर ही वह गृहलक्ष्मी बनी रहेगी? कब तक? आखिर कबतक यह सब चलता रहेगा? यह जो रंगी-चुँगी गुड़ियाँ बम्बई की सड़कों पर, मोटरों और टैक्सियों में, लिपस्टिक और रूज़ और फ़ोम-रबर से सजी-बजी डोल रही हैं, रजनी और वन्दना से, मूल में, भिन्न हैं क्या? इनका भी अस्तित्व नर की कृपा पर है। यह सब तबतक, जबतक पुरुष चाहे!

कोठरी के बाहर बैठा हुआ गंगादास यही सब सोच रहा था। नरेश दवा बनवाने गया हुआ था। इन्जेक्शन से कुछ वन्दना सचेत हुई, पुकारा—बाबा!

गंगादास ने आकर माथे पर हाथ रक्खा, ज्वर वैसा ही था। कहा—हाँ बेटी!

वन्दना ने पगले की गोद में कष्ट से सरक कर गहरी साँस ली, आँखों से फिर आँसू बह चले। एकटक पगले का मुँह देखती हुई बोली—तुमने मुझपर बड़ी दया की है बाबा। एक अनजान को शरण दी। पर मैं ऐसी अभागी कि तुम्हारे किए का बदला न चुका सकी। अब तो जा रही हूँ बाबा, अपनी रास्ते की बेटी को भूल तो न जाओगे?

क्या उत्तर दे गंगादास? वह भी रोने लगा, कहा—तू नहीं जायगी बेटी। तू कहीं नहीं जायेगी। हमेशा मेरे पास रहेगी।

वन्दना ने वैसे ही, रुदन के बीच फिर पूछा—बाबा, मैं मर जाऊँगी तो मेरा क्या करोगे?

गंगादास का बाँध टूट गया। वह निरुत्तर रहा। वन्दना कहने लगी—सुन नहीं रहे हो सागर की वह पुकार? देखो न, बार-बार वह लहरें किनारे तक आती हैं और मुझे न पाकर, पुकारती हुई निराश लौट जाती हैं। अब कब तक रोकोगे? मेरा तो काम पूरा हो गया! किसी का देना-पावना कुछ नहीं है। सब लोगों ने मुझे छुट्टी दे दी है, अब तुम भी मुझे हँसी-खुशी विदा कर दो बाबा!

हिचकियों के बीच गंगादास बोला—बेटी की विदा बाप से सही नहीं जाती। उसकी छाती फट जाती है। तू तो जानती है बेटी!

वन्दना का दर्द एक बार फिर टीसा, पेट दबाकर होंठ भींचे, फिर कहा—हाँ, पर विदा तो करना ही पड़ता है। अच्छा बाबा, एक बात मानोगे?

गंगादास—किसी की बात पर नाहीं करने का साहस अब गंगादास को नहीं है। वह दुर्बल हो गया है। कह बेटी।

वन्दना ने निहोरा किया—कल से तुम्हारा गाना नहीं सुना। वही—मरनो भलो बिदेस में! एक बार गा दो बाबा!

मरण के लिए स्वागतातुरा उस कोठरी में, असमय, पगले की खंजरी खनक उठी। स्वर जैसे किसी श्मशान के भैरव-भूमि से उठकर आ रहे हों। गा चला गंगादास आँसुओं के बीच—

मरनो भलो बिदेस में जहाँ न अपनो कोय
माटी खाइँ जनावरा महा महोच्छव होय

समाप्ति पर वन्दना ने तृप्ति की साँस ली, बोली—मर जाऊँ तो बाबा, मेरी देह भी उठाकर सामने सागर में फेंक देना। मोह मत करना। भगवान से प्रार्थना करना, तुम्हारी बेटी जाते-जाते उन जीवों को मंगल मनाने का सुयोग दे गई है तो उसकी आत्मा को शान्ति दें। इस जीवन में जो नहीं पा सकी, मर कर उसे पा सकूँ। मेरी यह बात रख लेना बाबा, नहीं तो आत्मा भटकती रहेगी।

अचेत वन्दना के मन के गवाक्ष खुले हैं शायद। मुँदी आँखों की अचेतना में भी उसके मन-पुहुप के म्लान स्तवक से कटु-सुधि की मुरझी पटलियाँ झर रही हैं। नन्हें से विकच जीवन की छाया-वीथी में उसका भ्रमित मन भटक रहा है। दोपहर का सूर्य माथे पर आ गया था, पलभर में कहीं से आकर बादलों ने उसे ढँक लिया। ......सागर की गरज

वैसी ही है, तट पर लहरों की तड़पन वैसी ही है। शिवनाथ की दी हुई कोख की चोट अन्दर ही अन्दर घाव बन गयी। उस दिन घोरपड़े को देखकर भागी वन्दना, तिल्ली फट गई। मृत्यु अब प्रत्याख्यान का विषय नहीं रही।

नरेश ने एक पता समझाते हुए गंगादास से कहा—बाबा, वन्दना इनकी जीजी हैं। भाभी के पति को भी बनारस तार भेज दिया है। जाकर इनसे कहो, तुम्हारी जीजी मिलकर भी अनमिल होने जा रही है। और क्या कहूँ? यह मूर्छा अब शायद कभी नहीं टूटेगी।

फूटकर रो पड़ा वह। गंगादास आँसू पोंछते चला गया। बाहर असमय की वर्षा होने लगी। भीतर कोठरी में स्तिमित नरेश मरणपथ-पथी वन्दना के चरणों में श्रद्धा के गीले निर्माल्य चढ़ाने लगा। बहुत देर बाद वन्दना ने कष्ट से आँखें खोलीं, दर्द से विजड़ित-विगलित पुकारा धीरे से—बाबा! जा रही हूँ बाबा। अपने चरणों की धूलि....

नरेश अपने को रोक नहीं सका, हाहाकार कर उठा—भाभी! ऐसा न कहो भाभी! ऐसा.... न कहो...... भाभी!

वह पागल-सा, विक्षिप्त-सा उन पूत चरणों पर लोट गया, स्वर रुदन-ज्वार में खोने लगे। जैसे कहीं दूर से घुटी हुई कण्ठ की.... करुणा रोई—मुझे क्षमा कर दो भाभी। तुम्हारे जीवन में ज्वाला सुलगाकर मैं स्वयं जल रहा हूँ। मैं तुम्हारा अपराधी हूँ भाभी, मैं...... मैं नरेश.... कितना खोज कर तुम्हें पाया है भाभी, क्या इसीलिये।

कण्ठस्वर कष्ट में भी परिचित-सा लगा। चेतना लौटी, वन्दना ने आँखें फाड़-फाड़कर देखा, पूछा—कौन? नरेश बाबू? अब तो बहुत देर हो गयी भैया?

एक साँस में नरेश सब कुछ कह गया। वन्दना तलफती रही और सब कुछ सुनती रही। घुटते स्वरों में बोली—उनको क्यों खबर दी

नरेश बाबू? वह ठहरे असमर्थ, बीमार....क्यों और कष्ट दिया उनको? मैं तो उनके रास्ते से हट गई थी! अब फिर यह सब क्यों ......अब तो उनकी दी हुई चोट की प्रसादी......लेकर जा रही हूँ। वह सुखी हों, नैना सुखी हो......तुम सुखी हो....बाबा.... बाबा....प्रार्थना करना नरेश बाबू...स्त्री दयनीय....कभी न....बने। मार खाकर ....

अन्तिम हिचकी! वन्दना की कंचन-काया एक ओर झूल गयी, पश्चिमाभिमुख दिवानाथ ने बादलों से मुँह निकाल कर झांका, सिन्दूर क्षण भर के लिए दीपित हुआ, फिर झर, झर, झर......

नरेश ने तुरन्त अभिशापिता वन्दना को गोद में ले लिया। कातर-कपोत-सा क्रन्दन कर उठा—भाभी!

नैना के साथ उतावली से गंगादास ने भीतर आकर देखा, वन्दना की निष्प्राण यशःकाया नरेश की महाप्राण गोदी में पड़ी हुई है। वन्दना ने धीरे-धीरे एक हाथ उठाकर नरेश के सिर पर रखना चाहा पर आशीष नहीं दे सकी। हाथ नीचे गिर गया।

●

पन्द्रह

चर्नी रोड और मरीन लाइन्स के बीच बने सोनापुर में चिता बुझ चुकी थी।

नरेश ने एक चुटकी भस्म माथे से लगाई और उठ खड़ा हुआ। बोला—भाभी का सब देना-पावना चुक गया नैना बहन ! सब को आशीष देकर वह अन्नपूर्णा चली गई। एक दिन जिस दिन अनदेखी मौत के निमंत्रण पर वह घर से चली थीं, कहा था उन्होंने—मरने के समय किसी की आँखों का एक बूंद जल देख सकूँ, यह भी भाग्य में नहीं है शायद। वही हुआ, मरने के समय कोई अपना उनके पास नहीं रहा। तुम, गंगादास जी, मैं—सब पराये ! चलो बहन अब। खोने के ही लिए मैंने उन्हें फिर पाया था।

नैना ने नयनों की बरसात के बीच कहा धीरे-से—उनका आशीष सम्हाल कर मैं रखूँगी कहाँ नरेश बाबू ? मैं तो एकदम कंगाल हो गई। तुमने उन्हें एक बार खोकर पाया था नरेश बाबू, मैंने तो पाकर खोया है। मेरी बिथा कौन जानेगा ?

सोनापुर (श्मशान) के बाहर खिंची चहारदीवारी पर लगे सिनेमा के रंग-विरंगे पोस्टर नियोन प्रकाश में जगर-मगर कर रहे थे।

तीन छायामूर्तियाँ धीरे-धीरे सागर-त पर आकर खड़ी हो गईं। पगले गंगादास ने एक अंजुलि राख जल में प्रवाहित की और कहा—तुम्हारी आत्मा भटकती रहेगी बेटी, तुम्हारी अन्तिम साधभी पूरी नहीं हुई। मेरी अनजानी अपूर्णकाम बिटिया.....

टाट के चिथड़े ओढ़ने से पगले ने खंजरी ढूँढ़ कर निकाली, गा चला—

मरनो भलो बिदेस में जहाँ न अपनो कोय

नैना बेहाल हो उठी—मत गाओ बाबा, मत गाओ यह।

स्वर में भींग कर रात भी रो उठी।

रात की आँखें मुँद नहीं पा रही हैं। निशीथ के नेत्रों की नींद तिरोहित हो गई है। सपनों के पलक अपलक हैं।

झर, झर, झर......शिवनाथ को नरेश का दूसरा तार मिल गया होगा।

*   *   *

—कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं। सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलनेवाले क्रूर हैं। स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिए यही पूर्णता बना दी है। यह उनकी रचना है।

—जयशंकर प्रसाद

सर्वदानन्द

—यदि हम जान लें कि साहित्य क्षेत्र में सर्वदानन्द का पदार्पण एक कवि और उपन्यासकार के रूप में ही हुआ था और उनका नाटककार उनकी पूर्ववर्ती उपलब्धियों का ही विकसित रूप है तो हमें उनकी रचना शक्ति की गहराई तक पहुँचने में अधिक सुविधा हो सकेगी। सर्वदानन्द की कृतियों को जिन लोगों ने पढ़ा है वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि अपनी प्रत्येक रचना में उन्होंने मानव मन की कमज़ोरियों के विरुद्ध ज़बर्दस्त प्रहार किये हैं और वे प्रहार ऐसे नहीं थे जो क्षणिक रूप में मन की अन्तश्चेतना में हलचल पैदा करके विलुप्त हो जाएँ। अपनी विकृतियों पर सचेष्ट अनुताप करने की गहराइयों को लेकर ही सर्वदानन्द ने अपने प्रत्येक चरित्र की सृष्टि की है। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि उन चरित्रों में कुछ ऐसी ईमानदारी थी जो हमारी बुद्धि को कुछ सोचने के लिए बाध्य कर दे, हमें लगे कि जैसे हमारे अन्तर का कोई कोना एकदम सोते-सोते जग गया है और मात्र थपकियाँ देकर उसे दुबारा सुलाया नहीं जा सकता—यह है उपन्यासकार, नाटककार और अभिनेता सर्वदानन्द के साहित्य का सही परिचय, कविता से जो अब विरक्त हो चुके हैं।